

श्रीमद्भगवद् गीता



SPS

294.5924 K 92 S



64825

कैलाश चन्द्र त्रिवेदी

श्रीमद्भगवद् गीता



SPS

294.5924 K 92 S



64825

कैलाश चन्द्र त्रिवेदी

श्रीमद्भगवद् गीता

पद्यानवाट (हिन्दी)

286

हिंदी व्याकरण

(हिंदी) भाषाशास्त्र

हिंदी व्याकरण

104

80000

6-26



हंसा प्रकाशन

श्रीमद्भगवद् गीता

पद्यानुवाद (हिन्दी)

अनुवादक

कैलाश चन्द्र त्रिवेदी

Kailash Chander Trivedi



हंसा प्रकाशन

H294.5924

V 925

- प्रकाशक : हंसा प्रकाशन
57, नाटाणी भवन, मिश्रराजाजी का रास्ता,
चाँदपोल बाजार, जयपुर - 302 001
- ISBN : 81 - 86120 - 78 - 5
- सर्वाधिकार : लेखकाधीन
- प्रथम संस्करण : 2006
- मूल्य : 125 रुपये
- टाईप सेटिंग : टास्क ग्राफिक्स, जयपुर
- मुद्रक : शीतल प्रिन्टर्स

प्राक्कथन

श्रीमद्भागवद् गीता का माहात्म्य वाणी द्वारा वर्णन करने के लिए किसी की सामर्थ्य नहीं है। इसमें सम्पूर्ण वेदों का सार संग्रह किया गया है। यह एक परम रहस्यमय ग्रन्थ है, इसका आशय इतना गम्भीर है कि आजीवन निरन्तर अभ्यास करने पर भी उसका अन्त नहीं आता। भगवान के गुण, प्रभाव और मर्म का वर्णन जिस प्रकार इस गीता शास्त्र में किया गया है वैसा अन्य ग्रन्थों में मिलना कठिन है। गीता शास्त्र सच्चिदानन्द, चराचरवन्दित, पुरुषोत्तम साक्षात् भगवान श्रीकृष्ण की दिव्य वाणी है। यह अत्यन्त रहस्यों से पूर्ण है। परम कृपामय भगवान श्रीकृष्ण की कृपा से ही किसी अंश में इसका रहस्य समझ में आ सकता है। आध्यात्म ज्ञान के परम भण्डार इस गीता शास्त्र को समझना अत्यन्त कठिन है। मैंने इस पावन शास्त्र का हिन्दी पद्य में रूपान्तर करने का प्रयास किया है। मैंने भरसक प्रयास किया है कि गीता का ज्ञान जनसाधारण तक पहुँच सके और पढ़ा लिखा प्रत्येक व्यक्ति इसे समझ सके किन्तु विषय की गंभीरता को देखते हुए कुछ संस्कृत के शब्दों का प्रयोग इस रूपान्तर में अवश्य हुआ है। अब यह तो पाठक ही बता सकेंगे कि मेरा प्रयास कहाँ तक सफल बन पड़ा है।

प्रिय पाठकों से मेरा विनम्र निवेदन है कि अपने अमूल्य सुझावों से मुझे अवश्य ही अवगत कराने का श्रम करेंगे।

धन्यवाद।

आभारी

(कैलाश चन्द्र त्रिवेदी)

नायन (जयपुर)

समर्पण

बंशीधरजी सुप्रतिष्ठित तिवाड़ी कुल के प्राण थे।
 दीन दुखियों, आगतों के अकारण ही त्राण थे॥
 अध्ययन गीता का सदा ही नियम से करते रहे।
 माला लिए निजकर सदा बसमोद में भरते रहे॥

पुत्र उनके चौथमल जी "मम पिता" सज्ञान थे।
 अपने गुणों से कर्म से इस वंश के अभिमान थे॥
 ममतामयी मां "केशरी" बस ज्ञान का भण्डार थी।
 भक्ति की प्रतिमा बनी मम प्रेरणा आधार थी॥

आध्यात्म का सर्वोपरि गीता परम आधार है।
 अनुवाद उनको है समर्पित ज्ञान का भण्डार है॥
 उनके आशीर्वाद से हम आज जो कुछ हैं यहां।
 स्वर्ग में आसीन उनको यह समर्पण है वहां॥

(कैलाश चन्द्र त्रिवेदी)

नायन (जयपुर)

मंगलाचरण

(1)

नमन करता हूँ प्रथम ही, प्रथम पूज्य गणेश को ।
निर्विघ्न सारे कार्यकर, जो मेटता सब क्लेश को ॥
वागीश्वरी माँ शारदे, तू ज्ञान की दाता सदा ।
हृदय में आलोक कर, हे लोक की माता सदा ॥

(2)

उपदेश गीता का हमारा ज्ञान का भण्डार है ।
आध्यात्म का सर्वोपरि गीता प्रमुख आधार है ॥
अनुवाद करना चाहता हूँ पद्य में इस ज्ञान को ।
कृपा हो उस ईश की इसमें लगाता ध्यान को ॥

श्रीमद्भगवद् गीता

अथ प्रथमो अध्यायः

(1)

धर्मयुत कुरुक्षेत्र में निज सैन्यबल को साथ ले।
समन्वित रणभूमि में शस्त्रास्त्र अपने हाथ ले ॥
संजय बता कुरुराज बोले, युद्ध की इच्छा लिये।
मेरे सुतों और पाण्डवों ने और क्या उद्यम किये ॥ (1)

(2)

देखकर उस व्यूह को और पाण्डवों की सैन्य को।
सन्तप्त दुर्योधन चला पहचान कर निज दैन्य को ॥
द्रोण सम्मुख आ गया अति गर्व से मण्डित महा।
और बोला, भूप को यह शुद्ध संजय ने कहा ॥ (2)

(3)

आचार्य देखो पाण्डवों की सैन्य सज्जित है बड़ी।
आपके प्रिय शिष्य द्वारा व्यूह रचना में खड़ी ॥
धृष्टद्युम्न महारथी है, व्यूह रचना दक्ष हैं।
मैं बताता नाम उनके जो कि इनके पक्ष हैं ॥ (3)

(4)

भीम अर्जुन तुल्य है जो युद्ध में दुर्जेय है।
धनुर्धारी सात्यकि नृप विराट द्रुपद ज्ञेय है ॥
चेकितान महारथी और धृष्टकेतु पराक्रमी।
काशी नरेश महावली है, युद्ध कौशल के धनी ॥ (4)

(5)

वर शैव्य है पुरुजित तथा जो नाम के अनुरूप है।
विक्रान्त, कुन्ति भोज, उत्तम औज जैसे भूप हैं ॥
युधामन्यु, द्रौपदी के पांच पुत्र महान् हैं।
अभिमन्यु जैसे वीर सारे सैन्य बल के प्राण हैं ॥ (5-6)

(6)

अपनी तरफ जो वीर है, तुम नाम उनके जानिये।
 वीर सेनापति प्रमुख है, न्यून कर मत मानिये॥
 नाम उनके मैं बताता ध्यान से सुन लीजिए।
 पाण्डवों की सैन्य तुलना स्वयं ही कर लीजिए॥ (7)

(7)

समर विजयी भीष्म है, कृप, कर्ण आप महाबली।
 नाम से ही मच रही है, शत्रुदल में खलबली॥
 भूरिश्रवा है, द्रौणसुत विकर्ण रण निष्णात है।
 युद्ध कौशल के लिए जो सैन्य में प्रख्यात है॥ (8)

(8)

और भी वरवीर हैं, जो प्राण अर्पण के लिए।
 मेरे लिए इस युद्ध में जीवन समर्पण के लिए॥
 शस्त्रास्त्र चालन में कुशल है युद्ध विद्या दक्ष हैं।
 और राजा बहुत से इस युद्ध में मम पक्ष है॥ (9)

(9)

भीष्म से रक्षित हमारा सैन्य बल दुर्जेय है।
 वरवीर भीष्म महाबली संसार में परिज्ञेय है॥
 भीम रक्षित पाण्डवों के सैन्य बल को जीतना।
 सुगम है बोला सुयोधन स्वयं ही प्रमुदित मना॥ (10)

(10)

निज मोर्चों पर रह व्यवस्थित चतुर्दिक संग्राम से।
 भीष्म की रक्षा करें सब युद्ध की गति वाम से॥
 सिंह गर्जन तुल्य उसके हर्षवर्द्धन के लिए।
 शंख फूं का भीष्म ने उत्साहवर्द्धन के लिए॥ (11-12)

(11)

बजने लगे तब शंख भेरी ढोल अति ही जोर से।
 आकाश भी कम्पित हुआ था उस भयंकर शोर से॥
 श्वेत अश्वों से सुसज्जित दिव्य रथ आसीन हो।
 श्रीकृष्ण अर्जुन ने बजाया शंख तब स्वाधीन हो॥ (13-14)

(12)

पाञ्चजन्य महारथी श्रीकृष्ण ने जब शक्ति से।
तब पार्थ ने भी शंख फूँका देवदत्त अति भक्ति से॥
पौण्ड्र नामक शंख भारी भीमकर्मा भीम ने।
प्रतिध्वनित था शब्द भारी उस समय निस्सीम में॥ (15)

(13)

फिर युधिष्ठिर कुन्ती सुत ने शंख विजयानन्त को।
सुघोष फूँका नकुल ने फिर कर विदारण दिगन्त को॥
सहदेव ने भी मणिपुष्पक शंख गुंजारित किया।
इसके अनन्तर बज उठे सब शंख तत्क्षण ही वहां॥ (16)

(14)

काशी नरेश महारथी और सात्यकि वरवीर ने।
धृष्टद्युम्न महाबली ने शिखण्डी रणधीर ने॥
विराट, द्रुपद, द्रोपदी के तनय ने चहुँ ओर से।
अर्जुन तनय अभिमन्यु ने फिर शंख फूँका जोर से॥ (17-18)

(15)

प्रलय की धन गर्जना सम वह भयंकर शब्द था।
सुनकर जिसे सब कांपते थे, अवनिअम्बर स्तब्ध था॥
कौरवों के सैन्यबल के हृदय चूर्ण विचूर्ण थे।
पाण्डवों के वीर सब उत्साह से परिपूर्ण थे॥ (19)

(16)

देखकर तब कौरवों का सैन्यबल सज्जित महा।
शस्त्र संचालन समय ले धनुष अर्जुन ने कहा॥
श्रीकृष्ण से बोला धनुर्धर, भूप यह सुन लीजिए।
हे कृष्ण मेरा रथ बढ़ाकर मध्य स्थापित कीजिए॥ (20-21)

(17)

युद्ध की इच्छा लिये रणभूमि में सन्नद्ध हैं।
देखना मैं चाहता जो युद्ध से सम्बन्ध है॥
दुष्ट दुर्योधन भला जो चाहते संग्राम में।
युद्ध करना है मुझे रण यज्ञ के शुभ काम में॥ (22-23)

(18)

धनञ्जय का वचन सुनकर वासुदेव महारथी।
मध्य रथ को ले गये जो वन रहे थे सारथी॥
भीष्म द्रोण प्रमुख सबके सामने स्थापित किया।
देख सारे कौरवों को, पार्थ को ज्ञापित किया॥ (24-25)

(19)

सैन्य दोनों में अवस्थित देखकर तब पार्थ ने।
युद्ध हित आये यहां धिक्कार घेरा स्वार्थ ने॥
चाचा, पितामह, पुत्र, वान्धव, पौत्र मित्र तथा सभी।
श्वसुर, मातुल, शिष्य, गुरु, जो स्नेहसिक्त रहे कभी॥ (26-27)

(20)

ध्वंसलीला परिजनों की सोच मन यूँ डोलता।
दुःखितमन हो पार्थ तब श्रीकृष्ण से यूँ बोलता॥
युद्धकामी परिजनों को देखकर इस रीति से।
अंग सारे शिथिल, सूखा मुख हुआ अति भीति से॥ (28-29)

(21)

तनु प्रकम्पित हो रहा, रोमाञ्च होता जा रहा।
त्वचा जैसे जल रही, गाण्डीव छूटा जा रहा॥
मन भ्रमित है शक्ति भी अवसन्न होती जा रही।
जड़ हुई है चेतना भी मूर्च्छना सी छा रही॥ (29-30)

(22)

लक्षण प्रभो विपरीत ही मुझको दिखाते हैं सभी।
स्व बन्धुओं को मारकर कल्याण होता है कभी॥
विजय की इच्छा नहीं, न राज्य सुख की कामना।
राज्य, जीवन, भोग का यदि इस तरह हो सामना॥ (31-32)

(23)

राज्य, सुख और भोग का जिनके लिए सम्बन्ध है।
प्राण, धन को त्यागकर वे युद्ध में सन्नद्ध हैं॥
गुरु, पितामह, पुत्र, बन्धु पौत्र, मामा और जो।
सम्बन्धी साले श्वसुर सब दिख रहे चहुँ ओर जो॥ (33-34)

अथ प्रथमो अध्यायः

(24)

मिलकर सभी मारे मुझे तो भी न इनको मारता ।
 है भूमि की तो बात क्या त्रैलोक्य भी धिक्कारता ॥
 कौरवों को मारकर भी क्या सुखी रह पाऊँगा ।
 इन पापियों को मारने से पाप ही कर पाऊँगा ॥ (35-36)

(25)

अतएव माधव कौरवों को मारना क्या योग्य है ।
 स्वबान्धवों को मारकर क्या स्वर्ग सुख भी भोग्य है ॥
 कुल नाश के इस पाप को यदि ये नहीं पहचानते ।
 लोभवश, विश्वास में भी कपट को ही जानते ॥ (37-38)

(26)

किन्तु हम तो जानते हैं पाप के परिणाम को ।
 कुल नाश से उत्पन्न पापों और छल के काम को ॥
 हे जनार्दन क्या हमें भी पाप करना चाहिए ।
 इन पापियों के साथ ही हमको भी मरना चाहिए ॥ (39)

(27)

कुल नष्ट होता है जहाँ तो नष्ट है कुल धर्म भी ।
 कुल धर्म जब रहता नहीं फल फूलता अपधर्म ही ॥
 अधर्म की अभिवृद्धि से कुल नारियाँ व्यभिचारिणी ।
 चरित्र के इस पतन से बस वर्णशंकार धारिणी ॥ (40-41)

(28)

कुल द्यातियों को और कुल को नरक में ले जाएंगी ।
 वर्णशंकर सन्तति जब वंश में आ जाएंगी ॥
 श्राद्ध तर्पण से विमुख हो पितृगण भी रोएंगे ।
 निम्न गति को प्राप्त होकर अश्रु से मुख धोएंगे ॥ (42)

(29)

वर्णशंकार दोष से सब वंश होते नष्ट हैं ।
 कुल धर्म, जाति, धर्म डूबे जो कि हमको इष्ट हैं ॥
 कुलधर्म हीन मनुष्य का बस नरक में ही वास है ।
 सुन रहे हैं आज तक वह नरक का ही ग्रास है ॥ (43-44)

(30)

खेद है मुझको कि हम यह पाप करने जा रहे ।
 राज्य सुख के लोभ में निज बान्धवों को खा रहे ॥
 यदि शस्त्र ले कौरव सभी मेरा करे जो सामना ।
 मर भी जाऊँ तो भी अब प्रतीकार की नहीं कामना ॥ (45-46)

(31)

कल्याण समझूंगा इसे ऐसा तभी कहते हुए ।
 अवसन्न बैठा उसी रथ में विषम दुःख सहते हुए ॥
 धनुष त्यागा, बाण भी निःशस्त्र पाणि हो गया ।
 बुद्धि कुंठित हो गई और अतल दुःख में खो गया ॥ (47)

प्रथमो अध्यायः समाप्तः

अथ द्वितीयो अध्यायः

(1)

अश्रुपूरित नेत्र करूणा सिक्त देखा पार्थ को ।
शोक बिह्वल हो रहा था, छोड़कर पुरुषार्थ को ॥
श्रीकृष्ण ने देखा उसे कर्तव्य पथ से डोलते ।
बोले वचन हरि ने स्वयं उसके हृदय को तोलते ॥ (1)

(2)

हे धनञ्जय इस समय यह मोह कैसा छा गया ।
पुरुषार्थ बेला में यहां यह दैन्य कैसे आ गया ॥
आर्य निन्दित, स्वर्गवर्जित मार्ग में क्यों बढ़ रहे ।
कीर्ति नाशक कर्म अपना क्यों स्वयं ही गढ़ रहे ॥ (2)

(3)

अर्जुन नपुंसक मत बनो यह का पुरुष का नाम है ।
तुझ सरीखे वीर में शोभित नहीं यह काम है ॥
हृदय का दौर्बल्य त्यागो यह अधोगति वीर की ।
वक्ष भेदे जो न अरि का क्या गति उस तीर की ॥ (3)

(4)

प्राण न्यौछावर करूँ जिनके तनिक आदेश से ।
पूजार्ह हैं मेरे लिए जो राज्य से इस देश से ॥
पितामह गुरु द्रोण से क्या युद्ध मैं कर पाऊँगा ।
रणभूमि में सम्मुख गया तो स्वयं ही मर जाऊँगा ॥ (4)

(5)

गुरुजनों को मारकर जो स्वर्ग सुख मिल पायेंगे ।
वे भोग सारे गुरुजनों के रक्त से सन जायेंगे ॥
इसलिए हे कृष्ण इनको मारना कुकृत्य है ।
भैक्ष्य से जीवन चलाना, यही मेरा सत्य है ॥ (5)

(8)

(6)

जानते हैं हम नहीं यह युद्ध करना ठीक है?
 जानते यह भी नहीं आगे हमारी जीत है ॥
 युद्ध हित कौरव सभी ये सामने तैयार है ।
 मारकर प्रिय जन सभी जीना हमें दुश्वार है ॥ (6)

(7)

भीरुता के दोष से परिपूर्ण मैं अति मूढ़ हूँ ।
 धर्म विषयक चेतना से रहित कर्म विमृढ़ हूँ ॥
 शरण में हूँ अब तुम्हारी ज्ञान मुझको दीजिए ।
 शिष्य हूँ तेरा प्रभो अज्ञानतम हर लीजिए ॥ (7)

(8)

विश्व की सब भूमि का यदि राज्य निष्कण्टक मिले ।
 धन धान्य से परिपूर्ण हो, जो सुमन खुशियों के खिले ॥
 स्वर्ग भी उतरे यहां इन्द्रत्व भी मिल जायेगा ।
 शोक पीड़ित इन्द्रियों को शांति क्या दे पायेगा ॥ (8)

(9)

वचन को विश्राम दे, सन्तप्त मन से घुप हुआ ।
 "युद्ध मैं करता नहीं" यह कह परन्तप चुप हुआ ।
 उभय सेना मध्य में दुःखित महा अज्ञेय को ।
 राजन् कहा श्रीकृष्ण ने दे सान्त्वना कौन्तेय को ॥ (9-10)

(10)

जो शोक करने योग्य हो तुम शोक उनका ही करो ।
 पण्डित समान विचारकर कार्पण्य मत मन में भरो ॥
 निष्प्राण लोगों के लिए या मर्त्य का क्या दुःख भला ।
 विद्वान बनकर सोच तू यह त्याग बुद्धि चञ्चला ॥ (11)

(11)

अतीत में ऐसा समय ही कब रहा यह तो बता ।
 जब ये नहीं थे, तू नहीं था, और मैं मौजूद था ॥
 आगे रहेंगे हम नहीं ऐसा नहीं होगा कभी ।
 इसलिए तू शोक तज आगे मिलेंगे हम सभी ॥ (12)

(12)

जिस भांति तन में बचपना, यौवन बुढ़ापा आ रहा ।
 एक आता दूसरा आगे खिसकता जा रहा ॥
 उस भांति दूजी देह को ही प्राप्त करते हैं सभी ।
 विद्वान ऐसा जानकर मोहित नहीं होते कभी ॥ (13)

(13)

अनुभूतियाँ शीतोष्ण दुःख की इन्द्रियों से भोग्य है ।
 विषय सुख की वासना भी नष्ट होने योग्य है ।
 इसलिए कौन्तेय सुख की त्याग दो सब कामना ।
 भाग तुम सकते नहीं करना पड़े गा सामना । (14)

(14)

इसलिए नर रत्न जिनको ये नहीं हैं तापते ।
 हर्ष में हर्षित न होते कष्ट में नहीं कांपते ॥
 धैर्य जिनका मित्र होता हर तरह सब काल में ।
 मोक्ष के भागी वही फंसते नहीं जंजाल में ॥ (15)

(15)

न्यूनता सत् की नहीं सब काल में वह सत्य है ।
 असत् छलना है सदा ही, क्षणिक और अनित्य है ॥
 तत्त्वज्ञानी ही समझते हैं सदा इस मर्म को ।
 मोहित नहीं होते कभी भी छोड़कर निज धर्म को ॥ (16)

(16)

नश्वर जगत में व्याप्त है और नाश से जो दूर है ।
 विनाशी मत जान उसको अव्ययी भरपूर है ॥
 मारना उसको कभी भी तेरे वश की बात है ?
 अव्ययी का अन्त करना क्या किसी के हाथ है ॥ (17)

(17)

जीवात्मा तो देह में शाश्वत सदा ही नित्य है ।
 अव्ययी सब काल में सब देह में वह सत्य है ॥
 देह मरती है सदा ही आत्मा मरती नहीं ।
 इसलिए तू युद्ध कर चिरवास यह करती नहीं ॥ (18)

(18)

आत्मा का काम तो है मारना मरना नहीं ।
जन्म लेना भी नहीं है शोक भी करना नहीं ॥
जो समझता आत्मा ही मारता मरता सदा ।
ज्ञान से वह शून्य है अविवेक पग धरता सदा ॥ (19)

(19)

जन्म वह लेता नहीं है मृत्यु को. पाता नहीं ।
उत्पन्न भी होता नहीं आगे कभी जाता नहीं ॥
वह अजन्मा नित्य है शाश्वत पुरातन है वही ।
मारने से देह को भी वह कभी मरता नहीं ॥ (20)

(20)

हे पार्थ जो इस आत्मा को नित्य शाश्वत मानता ।
अव्यक्त अविनाशी, अजन्मा, अमरता पहचानता ॥
कैसे किसी को मार सकता और मरवाता कहां ।
आत्मा आती कहां से और वह जाती कहां ॥ (21)

(21)

हे धनञ्जय जिस तरह नर जीर्ण वस्त्र उतार कर ।
फैंक देता है उन्हें फिर वस्त्र नूतन धारकर ॥
उस भांति ही तो आत्मा भी जीर्ण तन को छोड़ती ।
देह धारण कर सदा सम्बन्ध नूतन जोड़ती ॥ (22)

(22)

कट नहीं सकती कभी जो तीर से तलवार से ।
गल नहीं सकती कभी मोटी जलद की धार से ॥
सर्वग्राही अनल भी जिसको जला सकता नहीं ।
अनिल का झोंका कभी जिसको सुखा सकता नहीं ॥ (23)

(23)

शस्त्र, पावक, जल, मरुत् की शक्ति से वह दूर है ।
नित्य, व्यापी है, अचल है, सनातन है, पूर है ॥
अचिन्तनीय अव्यक्त है, अविकार्य इसको जान लो ।
सोच को त्यागो धनञ्जय, तथ्य को पहचान लो ॥ (24-25)

(24)

तुम जानते हो आत्मा यदि जन्म मृत्यु भोग्य है ।
 सोच त्यागो पार्थ तो भी यह न तेरे योग्य है ॥
 जन्म की यदि मृत्यु है, मृत जन्म लेता है सदा ।
 फिर सोच कैसा है धनञ्जय चल रहा है सर्वदा ॥ (26-27)

(25)

प्राणधारी जन्म से पहले कहीं अदृश्य था ।
 जन्म लेकर प्रकट होता नियति के ही वश्य था ॥
 मरकर कहां अदृश्य होता क्या तुम्हें यह ज्ञात है ।
 नियति का यह चक्र है, फिर शोक की क्या बात है ॥ (28)

(26)

हो अचम्भित आत्मा को देखता कोई गुनी ।
 उस भांति कोई कह रहा है, अन्य ने वैसे सुनी ॥
 सुनकर भी जिसने आत्मा के मर्म को जाना नहीं ।
 मैं मानता हूँ उस पुरुष ने सत्य पहचाना नहीं ॥ (29)

(27)

सब प्राणियों के देह में रह धर्म है मरना नहीं ।
 इसलिए इस आत्मा का शोक भी करना नहीं ॥
 देखकर निज धर्म को भी भीति की क्या बात है ।
 क्षत्रियों का धर्म रण है, यह जगत विख्यात है ॥ (30-31)

(28)

स्वयं आगत युद्ध अर्जुन स्वर्ग का जो द्वार है ।
 भाग्यशाली वीर पाते धर्म का आधार है ॥
 धर्म सम्मत युद्ध को जो तू नहीं कर पायेगा ।
 धर्म कीर्ति छोड़कर तू पाप पथ में जायेगा ॥ (32-33)

(29)

अपकीर्ति तेरी का यहां गुणगान सदियों तक चले ।
 सुनकर जिसे सब काल में यह जीव तेरा ही जले ॥
 मृत्यु से भी विषम है अपकीर्ति इस संसार में ।
 सम्मान का जीवन नहीं यह जगत् पारावार में ॥ (34)

(12)

श्रीमद्भगवद् गीता

(30)

सब वीर मानेंगे तुझे यूँ भीति से रण त्यागते ।
 कायर कहेंगे सब तुझे जो युद्ध से यूँ भागते ॥
 जिनकी निगाहों में सदा सम्मान का तू पात्र था ।
 कायर समझ सब कह उठें यह तो छलावा मात्र था ॥ (35)

(31)

सामर्थ्य की निन्दा करेंगे कटुवचन कह जायेंगे ।
 शत्रु तेरे सब जगह अपकीर्ति तेरी गायेंगे ॥
 इस भांति अपमानित हुआ क्या तू भला सह पायेगा ।
 जीते जी ही तू यहां बस नरक में गिर जायेगा ॥ (36)

(32)

मारा गया यदि युद्ध में तो स्वर्ग में आसन मिले ।
 जीतने पर अखिल महिका राज्य सिंहासन मिले ॥
 इसलिए कौन्तेय उठकर युद्ध हित निश्चय करो ।
 गाण्डीव लेकर हाथ में तुम शत्रुओं को जय करो ॥ (37)

(33)

एक समझो सुख दुःखो को लाभ हानि एक कर ।
 जय पराजय एक सी ही दृष्टि से तुम देखकर ॥
 युद्ध हित तैयार हो, उत्साह से भरपूर हो ।
 इस रीति से इस युद्ध में हर पाप से तुम दूर हो ॥ (38)

(34)

सांख्य विषयक योग की यह बात है मैंने कही ।
 इन्द्रिय, मन से और तन से कर्म है जितने सही ॥
 अभिमान तज कर्तृत्य का, परमात्मा में एक हो ।
 है निरन्तर कर्म करना सांख्य योग इसे कहो ॥ (39)

(35)

ज्ञान भी कहते इसे सन्यास इसका नाम है ।
 मैं बताता हूँ तुझे अब बुद्धि का जो काम है ।
 आसक्ति फल को त्यागकर समबुद्धि से सब कीजिए ।
 कर्म बुद्धि योग इसको नाम से कह लीजिए ॥ (39)

(36)

इस बुद्धि से अर्जुन स्वयं तुम कर्मबन्धन मुक्त हो।
 कर्म सब करते रहो परमात्मा में युक्त हो ॥
 इस योग में प्रारम्भ का क्रम नष्ट है होता नहीं।
 फल प्राप्ति का विपरीत दूषण भी नहीं इसमें कहीं ॥ (39-40)

(37)

साधन तनिक भी हो यदि इस कर्म योगी धर्म का।
 जन्म मृत्यु मुक्ति है साधन सदा इस कर्म का ॥
 इस योग से हे पार्थ बुद्धि निश्चयात्मक एक है।
 मति अनिश्चित मूर्खों की अनन्त और अनेक है ॥ (40-41)

(38)

इन्द्रिय सुख की कामना ही कर रहे हैं लोग जो।
 बस अधिकतम चाहते हैं स्वर्ग सुख का भोग जो ॥
 वेद के अनुसार जो है जन्म मृत्यु मानते।
 कर्म फल का भोगना ही जो स्वयं पहचानते ॥ (42-43-44)

(39)

वासना में लित है जो चाहते हैं भोग ही।
 ऐश्वर्य प्राप्ति लक्ष्य को ही जानते वे लोग ही ॥
 वाणी को सुन्दर बनाकर बोलते हैं सर्वदा।
 वे मूर्ख सब भगवान से भी दूर ही रहते सदा ॥ (42-43-44)

(40)

सत् रजो तम तीन गुण ही वेद के अनुसार हैं।
 कार्य जिनके भोग हैं साधन प्रबल आधार हैं ॥
 निर्द्वन्द्व रहकर कर्मजों से ईश में आसक्त हो।
 पावन बनो अन्तःकरण से योगक्षेम विरक्त हो ॥ (45)

(41)

अप्राप्य वस्तु प्राप्ति ही योग की पहचान है।
 प्राप्य की रक्षा सदा यह क्षेम विषयक ज्ञान है ॥
 इसलिए हे पार्थ तीनों गुण सदा को छोड़ दो।
 नित्य शाश्वत ईश में आसक्ति अपनी जोड़ लो ॥ (45)

(42)

सम्पूर्ण सर को प्राप्त होकर ज्यों पथिक निजराह में ।
छोड़ता है लघु जलाशय न्यूनकर निज चाह में ॥
इस भांति अर्जुन विप्र भी भगवान में लौ जोड़ता ।
ब्रह्म ज्ञाता तत्त्व चिन्तक, वेद को भी छोड़ता ॥ (46)

(43)

संसार में बस कर्म करना ही तेरा अधिकार है ।
परिणाम तो वह ही मिले जो ईश को स्वीकार है ॥
इसलिए तू कर्म फल का हेतु भी होना नहीं ।
और अपने कर्म-पथ का लक्ष्य भी खोना नहीं ॥ (47)

-(44)

बन्धनों को त्याग करके कर्म करना श्रेय हो ।
कर्म का होना न होना एक सा ही प्रेय हो ॥
योग में स्थित हुआ जो कर्म फल का भोग है ।
समदृष्टि से जो देखता वह ही समत्व योग है ॥ (48)

(45)

स्वार्थ प्रेरित कर्म करना योग बुद्धि से परे ।
निम्नतम श्रेणी यही है योग बुद्धि की अरे ॥
बुद्धि की जा शरण में बस यत्न रक्षा का करो ।
फल का हेतु मत बनो, कर्तव्य से भी मत डरो ॥ (49)

(46)

सम बुद्धि वाला पुरुष छूटे पुण्य से और पाप से ।
इस लोक में ही नष्ट होते बन्ध सारे आप से ॥
इसलिए इस योग की हे पार्थ शक्ति जान लो ।
और लग जा, योग देता कर्म कौशल मान लो ॥ (50)

(47)

समबुद्धि ज्ञानी जन धनञ्जय कर्म फल से दूर हो ।
जन्म बन्धन मुक्त होते परम पद पाते अहो ॥
बुद्धि तेरी मोह दलदल से कभी तर जायगी ।
इस लोक के परलोक के सब भोग भी हर जायगी ॥ (51-52)

(48)

विचलित हुई है बुद्धि तेरी लोक बातों से अभी ।
 स्थिर अचल हो ईश में वह लीन होगी जब कभी ॥
 सब बन्धनों से मुक्त हो तू ईश में रम जायेगा ।
 योग को तू प्राप्त होगा, कर्म भी कर पायेगा ॥ (53)

(49)

श्रीकृष्ण से बोले धनञ्जय यह मुझे बतलाइये ।
 परमात्मा, में लीन निश्चल बुद्धि को समझाइये ॥
 स्थिर मति मानव प्रभो । किस युक्ति से है बोलकर ।
 किस भांति चलता, बैठता है यह बता दे खोलकर ॥ (54)

(50)

श्रीकृष्ण बोले पार्थ सुन सब कामनायें छोड़कर ।
 सन्तुष्ट होता आत्मा से आत्मा को जोड़कर ॥
 संसार से हो बेखबर यह स्वयं मय हो जायेगा ।
 उस काल में ही वह पुरुष स्थिर मति कहलायेगा ॥ (55)

(51)

दुःख में व्याकुल नहीं हो, हर्ष की इच्छा नहीं ।
 जिसके हृदय में राग की और क्रोध की शिक्षा नहीं ॥
 भीति से जो दूर होकर ईश में रम जायेगा ।
 उस काल ही में वह मुनि स्थिर मति कहलायेगा ॥ (56)

(52)

स्नेह से वंचित हुआ शुभ अशुभ वस्तु जो मिले ।
 प्रसन्नता से दूर हो और द्वेष से भी ना हिले ॥
 जो शोक सुख को सब समय ही एक सा सह पायेगी ।
 सब बन्धनों से मुक्त हो स्थिर मति कहलायेगी ॥ (57)

(53)

जिस भांति कछुआ छुपा लेता अंग चारों ओर से ।
 इन्द्रियों को भोग से जो हटा लेता जोर से ॥
 स्थिर मति वह पुरुष इस संसार में रह दूर है ।
 ईश में तल्लीन होता ज्ञान में भरपूर है ॥ (58)

(54)

जिस भाँति भूखा पुरुष यदि भोजन कभी करता नहीं ।
किन्तु रस के स्वाद को भी वह विसरता है नहीं ॥
इन्द्रियाँ यदि रोकली आसक्ति तो रह जायेगी ।
स्थिर मति के हृदय से आसक्ति भी बह जायेगी ॥ (59)

(55)

आसक्तियाँ यदि भोग में तनिक भी रह जायेगी ।
तो इन्द्रियाँ आकृष्ट कर उनको सदा बहकायेगी ॥
प्रबल होकर इन्द्रियाँ ज्ञानी पुरुष को भी सदा !
यत्न करने पर भी मन आकृष्ट करती सर्वदा ॥ (60)

(56)

इसलिए हे पार्थ साधक इन्द्रियों को जीतकर ।
मत्परायण हो रहे ध्यानस्थ मन को खींचकर ॥
इन्द्रियाँ है वश्य जिसके वह अजय संसार में ।
स्थिर मति भी वह कहाता कर्म के व्यापार में ॥ (61)

(57)

विषय का चिन्तन करो आसक्ति भी बढ़ जायेगी ।
आसक्ति से ही प्राप्ति की कामना भी आयेगी ॥
बाधक हुई जो कामना उत्पन्न होगा क्रोध भी ।
फिर जन्म होगा मोह का और क्षीण हो अवबोध भी ॥ (62-63)

(58)

अवबोध का जब क्षय हुआ तो नष्ट होगी बुद्धि भी ।
बुद्धि के इस नाश से बस पतित होगी शुद्धि भी ॥
इन्द्रियाँ यदि राग से और द्वेष से जो दूर हों ।
विषय में चरता हुआ नर भोग में भरपूर हो ॥ (63-64)

(59)

आत्मवश होता हुआ अन्तःकरण से शुद्ध हो ।
प्राप्त होगा मोद को और शान्ति पा अवबुद्ध हो ॥
अन्तःकरण की शान्ति से दुःख दैन्य सबका नाश हो ।
प्रसन्न मन से वह सदा परमात्मा के पास हो ॥ (64-65)

(60)

इन्द्रिय मन के वश रहे स्थिर मति होती नहीं ।
 भावना से हीन होकर सद्गति होती नहीं ॥
 भावना से ऋस्त हुआ तो शान्ति कैसे आयेगी ।
 दुःख पारावर में मति डूबती ही जाएगी ॥ (66)

(61)

जिस भांति जल में तैरती तरणी पवन के जोर से ।
 उस भांति मन को इन्द्रियां भी घेरती चहुँ ओर से ॥
 इन्द्रियों के वश हुआ मन, बुद्धि को हरता सदा ।
 इसलिए हर काल में वह शोक ही करता सदा ॥ (67)

(62)

इन्द्रियों के विषय से यदि इन्द्रियाँ वश में रहे ।
 कौन्तेय उसको ज्ञान चिन्तक बुद्धि स्थिर सब कहें ॥
 अज्ञानतम में डूबते सब प्राणियों की रात हो ।
 परमात्मा में लीन मुनि का वह सदा सु प्रातः हो ॥ (68-69)

(63)

विषय के अधीन प्राणी जागते हैं जब सदा ।
 ईश ज्ञाता वह मुनि की रात होती सर्वदा ॥
 आपगा जैसे जलधि में लीन हो जाती सदा ।
 मर्याद में रह जलनिधि भी अचल रहता सर्वदा ॥ (69-70)

(64)

उस भांति सारे भोग जिसमें बस समाहित हो गये ।
 विकार सारे इन्द्रियों के और मन के खो गये ॥
 परम शान्ति प्राप्त करता लीन होता ईश में ।
 कामी पुरुष को वह कहां, सन्तप्त रहता टीस में ॥ (70)

(65)

कामना सम्पूर्ण तजकर जो पुरुष इस लोक में ।
 स्पृहा रहित निर्मम विचरता वह न डूबे शोक में ॥
 अहं से जो दूर होगा शान्ति भी पाता वहीं ।
 परमात्मा को प्राप्त होगा योगी कहलाता वही ॥ (71)

(18)

श्रीमद्भगवद् गीता

(66)

पार्थ यह ही स्थिति है ब्राह्मी जिसे कहते सभी ।
इस दशा को प्राप्त हो मोहित नहीं रहते कभी ॥
मरते समय भी वह पुरुष इस हाल में रहता हुआ ।
ब्रह्म में ही लीन होता मोक्ष को गहता हुआ ॥ (72)

द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः

अथ तृतीयोऽध्यायः

(1)

पार्थ ने तब कहा हे नृप क्या धरा इस सृष्टि में।
ज्ञान ही है श्रेष्ठ माधव जब तुम्हारी दृष्टि में॥
तब मुझे क्यों डालते हो इस भयंकर कर्म में।
आपकी वाणी पहुँचती है नहीं इस मर्म में॥ (1)

(2)

आपके मिश्रित व्रचन से मोह को मैं जा रहा।
निश्चयात्मक बोलिये यह चित्त है अकुला रहा॥
एक वाणी बोलिये क्या इष्ट है क्या नेष्ट है।
प्राप्त हूँ कल्याण को मेरे लिए क्या श्रेष्ठ है॥ (2)

(3)

श्रीकृष्ण बोले हे अनघ निष्ठा है दो संसार में।
जो बता दी पूर्व में उपदेश के इस सार में॥
ज्ञान में है सांख्यियों की योगियों की कर्म में।
उत्कर्ष साधन ही सदा निष्ठा है सारे धर्म में॥ (3)

(4)

कर्म का प्रारम्भ न कर योग निष्ठा है कहीं।
कर्म से सन्यास लेना ज्ञान निष्ठा भी नहीं॥
कर्म के निष्कर्ष को निष्कामता को जानना।
सन्यास लेने से भला क्या ज्ञान को पहचानना॥ (4)

(5)

मानव सदा ही प्रकृति से जन्म गुण परवश रहे।
निश्चल कभी रहता नहीं बस कर्म के ही वश रहे॥
निशा में सोते हुए भी श्वास लेना कर्म है।
एक क्षण खोये बिना बस कर्म उसका धर्म है॥ (5)

(6)

विषय को मन में बसा जो इन्द्रियों को रोकते ।
 बाह्य आडम्बर रचाते, मानसिक जो भोगते ॥
 वे मूर्ख पाखण्डी कहाते और दम्भी लोक में ।
 शान्ति वे पाते नहीं और डूबते हैं शोक में ॥ (6)

(7)

किन्तु अर्जुन इन्द्रियों का विषय से मुँह फेरकर ।
 नियन्त्रित मन से करे जो इन्द्रियों को घेरकर ॥
 दूर हो आसक्ति से सब कर्म कर पाता यहाँ ।
 श्रेष्ठ है इस लोक में और शान्ति भी पाता वहाँ ॥ (7)

(8)

इसलिए अर्जुन तुझे भी कर्म करना चाहिए ।
 शास्त्र के निर्देश से सब धर्म करना चाहिए ॥
 निष्कर्म रहना लोक में तो यह बड़ा दुष्कार्य है ।
 तनु धर्म निष्पादित यही बस मार्ग ही अब आर्य है ॥ (8)

(9)

यज्ञ कर्मों के अलावा और बन्धन योग्य है ।
 आसक्ति में रह नर सदा ही भोगता सब भोग्य है ॥
 इसलिए आसक्ति से रह दूर सारे कर्म कर ।
 यज्ञ कर्मों के समा परिपूर्ण अपना धर्म कर ॥ (9)

(10)

सृष्टि कर्ता ब्रह्म ने जब प्रथम रच संसार को ।
 यज्ञ सर्जन भी किया था सृष्टि के व्यापार को ॥
 यह कहा था तुम बढ़ोगे यज्ञ यदि करते रहो ।
 भोग इच्छित पा सकोगे, मोद में भरते रहो ॥ (10)

(11)

उन्नत करो दैवत्व को तुम यज्ञ आयोजन करो ।
 सब देवता उन्नत करें, सुख शान्ति से जीवन भरो ॥
 मिल बढ़ो आगे परम्पर दूर होकर स्वार्थ से ।
 कल्याण पथ गामी बनो उन्नत बनो परमार्थ से ॥ (11)

अथ तृतीयोऽध्यायः

(12)

यज्ञवर्द्धित देवता भी कर्म के व्यापार में।
 माँगे बिना ही दें सदा सब भोग इस संसार में॥
 दैवत्व अर्पण के बिना ही चाहते जो और हैं।
 कर्म करते चोर का वे वास्तव में चोर हैं॥ (12)

(13)

यज्ञ के अवशिष्ट हवि को श्रेष्ठ नर जो खा रहे।
 सब अर्घों से मुक्त होकर सर्व सुख ही पा रहे॥
 और पापी लोग जो निज अंगवर्द्धन के लिए।
 अन्न खाते हैं सदा बस पाप अर्जन के लिए॥ (13)

(14)

अन्न से उत्पन्न होते प्राणधारी हैं सदा।
 अन्न की उत्पत्ति सम्भव वृष्टि से ही सर्वदा॥
 वृष्टि होती यज्ञ से, और यज्ञ हो शुभकर्म से।
 सुखवृद्धि होती है सदा ही शान्ति मिलती धर्म से॥ (14)

(15)

शुभकर्म सारे हैं निहित तुम वेद में ही जान लो।
 वेद की उत्पत्ति तुम परमात्मा से मान लो॥
 इसलिए हे पार्थ इससे सिद्ध होता है यही।
 यज्ञ में परमात्मा की सब प्रतिष्ठा है सही॥ (15)

(16)

इस तरह चलता सदा ही सृष्टि का यह चक्र है।
 कर्तव्य पथ से पतित होकर चल रहा जो वक्र है॥
 पाप की आयु लिये वह इन्द्रियों के भोग में।
 व्यर्थ ही जीवन बिताता डूबता भव भोग में॥ (16)

(17)

किन्तु जो नर आत्मरत हो आत्मा में रम रहे।
 तृप्त होकर स्वयं में ही मोद में हरदम रहे॥
 सन्तुष्टि को पाकर अतुल धन, आत्ममय रहते सदा।
 कर्म बन्धन मुक्त होते शान्ति ही गहते सदा॥ (17)

(18)

बाँधले उनको यहां ऐसा न कोई कर्म है ।
 निष्काम योगी वे सदा बस कर्म करना धर्म है ॥
 नर श्रेष्ठ है, सब प्राणियों का स्वार्थ बन्धन भी नहीं ।
 पूजते निज ईश को वे पूजा चन्दन भी नहीं ॥ (18)

(19)

इसलिए हे पार्थ तुम कर्तव्य का पालन करो ।
 आसक्ति से हो दूर अपना मार्ग संचालन करो ॥
 कर्म भी करते हुए आसक्ति से जो हीन हैं ।
 नर श्रेष्ठ है वे पार्थ बस परमात्मा में लीन है ॥ (19)

(20)

कर्म की निष्काम वृत्ति सिद्धि देती लोक में ।
 तत्त्व ज्ञानी जनक जैसे सिद्ध थे आलोक में ॥
 लोक संग्रह देखकर तू कर्म करने योग्य है ।
 आसक्ति से ही कर्मफल को बस यहां तू भोग्य है ॥ (20)

(21)

श्रेष्ठ नर जिस रीति से ही कर्म जो कर जायेगा ।
 अन्य जन भी उस तरह ही मार्ग वह अपनायेगा ॥
 जो प्रमाणित कर गया वह मान्य हो संसार में ।
 लोक भी लग जायेगा उस कर्म के व्यापार में ॥ (21)

(22)

अर्जुन मुझे तिहुँ लोक में कुछ कर्म भी करना नहीं ।
 है कौनसी वस्तु जगत में प्राप्त जो मुझको नहीं ॥
 कर्मरत रहता सदा हर काल में हर देश में ।
 निष्काम योगी हूँ सदा हर दुःख में हर क्लेश में ॥ (22)

(23)

सजग रहकर पार्थ यदि मैं कर्म करना छोड़ दूँ ।
 हर चराचर विश्व को अवचेतना से जोड़ लूँ ॥
 क्योंकि सारे जीव मेरे मार्ग पर चलते सदा ।
 कर्म द्वारा ही सभी इस लोक में पलते सदा ॥ (23)

अथ तृतीयोऽध्यायः

(24)

निष्कर्म होकर बैठ जाऊँ मैं यदि जिस काल में।
चक्र सृष्टि का रुके, फंस जायें सब जंजाल में॥
शंकर पने का दोष लूँ, भक्षक बनूँ क्या लोक का।
इसलिए कौन्तेय उठ जा, त्यागकर निज शोक का॥

(24)

(25)

कर्म में आसक्त हो अज्ञान पारावार में।
कर्म अज्ञानी करे जिस भांति इस संसार में॥
उस भांति ज्ञानी भी करे बस दूर रह आसक्ति से।
लोक संग्रह के लिए परमात्मा की भक्ति से॥

(25)

(26)

शास्त्र सम्मत कर्म में आसक्ति का जो योग है।
दैन्य दुःख और क्लेश सारे कर्मफल का भोग है॥
दूर रह आसक्ति से ज्ञानीजनों को चाहिए।
सत्पथ दिखावेँ अन्य को मानी जनों को चाहिए॥

(26)

(27)

वास्तव में कर्म सारे प्रकृति गुण से हो रहे।
किन्तु कर्ता मैं स्वयं अज्ञान बोझा ढो रहे॥
उनका अहं ही स्वयं अपना मूढ़ पथ गामी बने।
शोक का भागी बने और नरक का गामी बने॥

(27)

(28)

गुण कर्म ज्ञानी ही समझते, जानते हैं तत्त्व को।
ज्ञान योगी ही सदा पहचानते हैं सत्य को॥
हे धनञ्जय इसलिए आसक्त वे होते नहीं।
कर्म बन्धन मुक्त हो, सज्ञान को खोते नहीं॥

(28)

(29)

तीन गुण के कार्य ही यह पंचभूति देह है।
मन बुद्धि का और अहं का दश इन्द्रियों का गेह है॥
शब्दादि पाँचों विषय मिलकर गुण कहाते हैं सभी।
इनकी परस्पर चेष्टा को कर्म गाते हैं सभी॥

(28)

(30)

सत् रजो तम तीन गुण-मोहित हुए हैं लोग जो ।
 गुण कर्म में आसक्त होकर भोगते हैं भोग जो ॥
 अज्ञानतम में डूबते उनको बचाना चाहिए ।
 तत्त्व चिन्तक ज्ञानियों को आगे आना चाहिए ॥ (29)

(31)

त्याग कर आशा निराशा और ममता छोड़कर ।
 सन्ताप को त्यागो धनञ्जय चित्त मुझ में जोड़कर ॥
 कर्म सारे जो करो मेरे लिए अर्पण करो ।
 मोह की धूलि हटाओ स्वच्छ मन दर्पण करो ॥ (30)

(32)

दोष दृष्टि मुक्त श्रद्धायुक्त हो जो नर यहां ।
 मेरे मत में चल रहे हैं स्वच्छ मन होकर यहां ॥
 छूट जाते बन्धनों से कर्म भी करते हुए ।
 निर्लिप्त रहते हैं सदा ही भोग में चरते हुए ॥ (31)

(33)

दोष देते हैं मुझे जो स्वयं निर्मित कर्म का ।
 जानते हैं जो नहीं यह मर्म मेरे धर्म का ॥
 मेरे मत चलते नहीं वे मूढ़ हैं अज्ञान हैं ।
 नष्ट उनको समझ लो तुम नाश की पहचान हैं ॥ (32)

(34)

ज्ञानी जन भी प्रकृति अनुसार करते कर्म हैं ।
 स्वभाव के अनुसार ही हो कर्म ऐसा धर्म है ॥
 प्रकृति को प्राप्त होते प्राणी इस संसार में ।
 निग्रह भला फिर क्या करेगा कर्म के व्यापार में ॥ (33)

(35)

सब इन्द्रियों में निहित है बस राग भी और द्वेष भी ।
 वश में हुआ है जो मनुज वह पा रहा है क्लेश ही ॥
 कल्याण पथ बाधित करेंगे ये सदा ही धर्म का ।
 शत्रु बनकर नष्ट करते लक्ष्य ही सत्कर्म का ॥ (34)

(36)

गुण रहित भी धर्म अपना श्रेष्ठ है पर धर्म से।
 पर धर्म में चलता सदा ही भ्रष्ट होना कर्म से॥
 भरना भला निज धर्म में ही यह सदा शुभ कृत्य है।
 परधर्म होता है भयावह यह तो शाश्वत सत्य है ॥ (35)

(37)

वह कौन ऐसी शक्ति है जो है मनुज को जोड़ती।
 पाप कर्मों के लिए उसके हृदय को मोड़ती॥
 चाह कर भी न स्वयं वह पाप में लगता अहा।
 यह मुझे बतलाइये हे कृष्ण अर्जुन ने कहा ॥ (36)

(38)

श्रीकृष्ण बोले पार्थ सुन यह रजोगुण के जोर से।
 काम की उत्पत्ति होती घेरती चहुँ ओर से॥
 काम ही तो जन्म देता फिर हृदय में क्रोध को।
 क्रोध को शत्रु समझ जो है मिटाता बोध को ॥ (37)

(39)

भोग से थकता नहीं कामी पुरुष संसार में।
 और लग जाता सदा इस पाप के व्यापार में॥
 अनल जैसे ढका रहता धूम के गुब्बार से।
 मुकुर ढक जाता सदा ज्यों मैल के संचार से ॥ (37-38)

(40)

जेर से लिपटा हुआ ही गर्भ रहता है सदा।
 काम से आच्छन्न वैसे ज्ञान भी है सर्वदा॥
 सर्वग्राही अनल समही काम को तुम जान लो।
 ज्ञानियों का शत्रु है इस तथ्य को पहचान लो ॥ (38-39)

(41)

इन्द्रियाँ मन बुद्धि ही इसके निवास स्थल कहे।
 मोह को उत्पन्न करता वास अन्तःस्थल रहे॥
 अवसन्न करता ज्ञान को अज्ञान का साधन यही।
 ज्ञानियों को जोड़ता है पाप संसाधन यही ॥ (40)

(42)

इसलिए कौन्तेय पहले इन्द्रियों को वश करो ।
 पाप पोषक काम को फिर बाँध कर पर वश करो ॥
 ज्ञान और विज्ञान को यह नष्ट करता काम है ।
 काम को मारो सदा सबसे प्रथम यह काम है ॥ (41)

(43)

स्थूल तन से इन्द्रियां ही श्रेष्ठ हैं बलवान हैं ।
 इन्द्रियों से श्रेष्ठ है मन की यही पहचान है ॥
 बुद्धिमन से श्रेष्ठ है इस बात को तुम जान लो ।
 आत्मा सर्वोपरि है सत्य को पहचान लो ॥ (42)

(44)

इस भाँति समझो आत्मा को, सूक्ष्म है बलवान है ।
 और सबसे श्रेष्ठ है इसकी यही पहचान है ॥
 बुद्धि से मन को नियंत्रित कर यही तो ज्ञेय है ।
 काम को मारो धनञ्जय शत्रु यह दुर्जेय है ॥ (43)

तृतीयोऽध्यायः समाप्तः

अथ चतुर्थोऽध्यायः

(1)

सबसे प्रथम इस योग को ही सूर्य से मैंने कहा ।
सार्वभौमिक योग यह सब काल ऐसा ही रहा ॥
सूर्य ने निज सुत मनु को योग-निर्देशित किया ।
मनु ने इक्ष्वाकु नामक पुत्र को शिक्षित किया ॥ (1)

(2)

इस भांति चलकर योग यह पारम्परिक सोपान से ।
राजऋषियों को मिला था ज्ञान के संधान से ॥
किन्तु अर्जुन बीच में यह लुप्त प्राय हो गया ।
लोक ने जाना नहीं अज्ञानतम में खो गया ॥ (2)

(3)

तू मेरा प्रिय मित्र है और भक्त भी मेरा रहा ।
इसलिए पुरातन योग मैंने आज है तुमसे कहा ॥
रहस्य उत्तम है निहित इस योग में अर्जुन सुनो ।
गुप्त रखने योग्य है अब सार तुम इसमें चुनो ॥ (3)

(4)

बोला धनुर्धर हे सखे यह बात कैसे है सही ।
जन्म तेरा अब हुआ है आदियुग कैसे कही ॥
तुम बताओ बात क्या विश्वास करने योग्य है ।
सूर्य जिस युग में हुआ वह कल्पना से भोग्य है ॥ (4)

(5)

जन्म मेरे और तेरे हैं बहुत से हो चुके ।
वे मुझे सब याद है तुम याद उनकी खो चुके ॥
अजन्मा हूँ मैं सदा ही, जन्म मैं पाता नहीं ।
प्राणियों का ईश हूँ, विश्वास क्या आता नहीं ॥ (5)

(6)

प्रकृति को वश किये हर काल में आता यहां।
 योग माया से सदा ही जन्म भी पाता यहाँ॥
 धर्म का जब नाश होता पाप बढ़ जाता कभी।
 नष्ट करने पाप को साकार हो आता तभी॥ (6-7)

(7)

अर्जुन सुनो तुम ध्यान से यह तथ्य बतलाता हूँ मैं।
 पाप की ही वृद्धि से इस लोक में आता हूँ मैं॥
 जन्म लेता युग युगों में साधुओं के त्राण को।
 पापियों का नाश करने, धर्म के कल्याण को॥ (8)

(8)

अर्जुन सुनो तुम जन्म मेरे, कार्य सारे दिव्य है।
 हैं अलौकिक लोक में यह जानते सर्वज्ञ हैं॥
 जानकर इस तथ्य को फिर मोक्ष पा जाते सदा।
 निर्बन्ध होकर अन्त में मुझ में समा जाते सदा॥ (9)

(9)

पूर्व में ही जो सदा भय राग से अति दूर थे।
 क्रोध से भी मुक्त थे, और ज्ञान से भरपूर थे॥
 ज्ञान तप-पावन हुए, और मुक्त बन्धन हो गये।
 अस्तित्व खोकर स्वयं का मुझमें समाहित हो गये॥ (10)

(10)

जो भक्त जैसा और जितना चाहते हैं जब मुझे।
 मैं भी उतना चाहता हूँ यह बताता हूँ तुझे॥
 क्योंकि सारे मनुज मेरे मार्ग पर ही चल रहे।
 और मेरी प्रेरणा से जन्म लेकर पल रहे॥ (11)

(11)

कर्म सिद्धि चाहते हैं जो पुरुष इस लोक में।
 दैवत्व अर्चन कर सदा ही डूबते नहीं शोक में॥
 दैवत्व अर्चन ही सदा सब सिद्धि का दाता यहाँ।
 अर्चना कर नर सदा शूभ-कर्मफल पाता यहां॥ (12)

(12)

चार वर्ण रचे गये गुण कर्म के अनुसार ही ।
मेरी कृति है पार्थ सुन यह सृष्टि का व्यापार ही ॥
फिर भी मैं कर्ता नहीं हूँ अव्ययी हूँ ईश हूँ ।
दूर रहकर सृष्टि से भी कहाता जगदीश हूँ ॥ (13)

(13)

इच्छा नहीं है कर्म फल की कर्म हूँ करता सदा ।
कर्म से बाधित नहीं निर्लिप्त पग धरता सदा ॥
इस तत्त्व को जो जान लेता ज्ञान से भरपूर है ।
फंसता नहीं है पाप में और कर्मबन्धन दूर है ॥ (14)

(14)

पूर्वजों ने जानकर ही मोक्ष की इच्छा लिए ।
कर्मबन्धन मुक्त होकर कर्म भी सारे किये ॥
इसलिए कौन्तेय तुम भी पूर्वजों के ज्ञान को ।
समझ, जुड़ लो कर्म से सब छोड़कर अज्ञान को ॥ (14)

(15)

सज्ञान भी मोहित हुए हैं कर्म क्या दुष्कर्म क्या?
मैं बताता हूँ तुझे इस समय तेरा धर्म क्या? ॥
जानकर इसको सभी तू पाप से तर जायेगा ।
कर्मबन्धन मुक्त होगा कर्म भी कर पायेगा ॥ (16)

(16)

कर्म कैसा हो यही तो जानना है अब तुम्हें ।
दुष्कर्म और अकर्म को पहचानना है अब तुम्हें ॥
गूढ़ गति है कर्म की यह तत्त्व ज्ञानी जानते ।
ज्ञान से निर्मल हृदय वे कर्म को पहचानते ॥ (17)

(17)

अपकर्म में भी कर्म को जो देखता है सृष्टि में ।
कर्म में निष्कर्मता है जिस पुरुष की दृष्टि में ॥
बुद्धि में वह श्रेष्ठ है ऊपर उठा है लोक से ।
कर्म सब करते हुए भी दूर रहता शोक से ॥ (18)

(30)

श्रीमद्भगवद् गीता

(18)

शास्त्र समस्त कर्म सब संकल्प इच्छा त्यागकर ।
 निष्काम करना कर्म अब ध्यानस्थ रहकर जागकर ॥
 भस्म सारे कर्म जिसके ज्ञानानल के ताप से ।
 ज्ञानी उसे पण्डित कहें और छूटता सब पाप से ॥ (19)

(19)

कर्मफल आसक्ति तज सन्तुष्ट है रहता सदा ।
 स्वयंमय होकर निराश्रय कर्मफल गहता सदा ॥
 कर्म करता है निरन्तर प्राणी का यह धर्म है ।
 किन्तु वह बाधित नहीं, करता नहीं कुछ कर्म है ॥ (20)

(20)

मन बुद्धि को और इन्द्रियों को जीतकर इस लोक में ।
 भोग साधन त्यागकर निर्लिप्त रहता भोग में ॥
 धर्म कायिक वह निभाता लोक का जो धर्म है ।
 पाप को पाता नहीं निष्काम करता कर्म है ॥ (21)

(21)

बिना चाहे लाभ जो वह स्वयं ही मिल पायेगा ।
 उस लाभ से ही जो सदा सन्तुष्ट होता जायेगा ॥
 ईर्ष्या रहित रहता हुआ, जो हर्ष से और शोक से ।
 कार्य करता है सतत ऊँचा सदा रह लोक से ॥ (22)

(22)

कार्य की सिद्धि असिद्धि एक सी जो मानता ।
 कर्म से बंधता नहीं उस ब्रह्म को पहचानता ॥
 नष्ट आसक्ति हुई और देह का अभिमान भी ।
 भिन्न ममता से हुआ परमात्मा में ध्यान भी ॥ (23)

(23)

कर्म करता यज्ञहित जो कर्म बन्धन छोड़कर ।
 पावन हृदय वह पुरुष ही सब कर्म मुझमें जोड़कर ॥
 ब्रह्म है जिस यज्ञ में बस श्रुवा भी और हव्य भी ।
 ब्रह्म ही कर्ता जहाँ पर और सारे द्रव्य भी ॥ (23-24)

(24)

ब्रह्म ही अग्नि जहाँ है, यज्ञ सम्पादन क्रिया।
कर्मफल भी ब्रह्म ही पाता सदा योगी यहाँ॥
अन्य योगीजन यहाँ पर दैव अर्चन यज्ञ को।
सम्पन्न करते हैं सदा दैवत्व को सर्वज्ञ को ॥ (24-25)

(25)

इसके अलावा अन्य योगी अनल रूपी ईश में।
आत्मा का यजन करते लीन हो जगदीश में॥
अन्य योगी जो यहाँ निज इन्द्रियों को द्रव्य कर।
अनल संयम में सदा ही डालते हैं हव्य कर ॥ (25-26)

(26)

शब्द स्पर्शी रूप रस को विषय आदि गन्ध को।
इन्द्रिय अग्नि सात करते ध्यान कर पर ब्रह्म को॥
और कोई यजन करते इन्द्रिय व्यापार को।
आत्म संयम अनल में निज प्राण के संचार को ॥ (26-27)

(27)

द्रव्य यज्ञी है कई और तपो यज्ञी अन्य है।
यजन करते अन्य कोई योग ही से जन्य है॥
स्वाधारूपी यज्ञ को भी ऋषिजन करते यहाँ।
इस भाँति ज्ञानी जन सदा ही यज्ञ ही करते यहाँ ॥ (27-28)

(28)

अपान वायु अग्नि में निज प्राण वायु ज्ञान को।
अपान में ही यज्ञ करते डालकर निज प्राण को॥
प्राणायामी यज्ञ करते दोनों की गति रोककर।
प्राण में ही प्राण को बस हवन करते झोंक कर ॥ (29-30)

(29)

साधक सभी ये हवन द्वारा नाश करते पाप का।
यज्ञ विधि को जानते परमार्थ करते आपका॥
यज्ञ से अवशिष्ट भोजी प्राप्त करते ईश को।
ब्रह्म को भजते सदा ही हृदय रख जगदीश को ॥ (30-31)

(32)

श्रीमद्भगवद् गीता

(30)

यज्ञ न कर लोक में भी सुख नहीं मिलता कभी ।
 परलोक की तो बात क्या जीवन नहीं चलता कभी ॥
 यज्ञ की विधियाँ बहुत हैं वेदवाणी में कही ।
 कर्म से सम्पन्न होती मान लो इसको सही ॥ (31-32)

(31)

तत्त्व ज्ञानी की तरह ही सत्य को पहचान कर ।
 कर्मबन्धन मुक्त होकर यज्ञ का सम्मान कर ॥
 द्रव्य यज्ञों की अपेक्षा श्रेष्ठ सब से ज्ञान है ।
 कर्म सारे परिसमापित ज्ञान में यह ध्यान है ॥ (33)

(32)

गुरुजनों की जा शरण, जो ज्ञान के आगार हैं ।
 तत्त्वदर्शी हैं चिरन्तन ब्रह्म के अवतार है ॥
 सेवा करो निष्कपट होकर मधुर वाणी बोलकर ।
 उपदेश देंगे वे तुम्हें ही तथ्य सारे खोल कर ॥ (34)

(33)

मोह से तू दूर होगा, जानकर सब तत्त्व को ।
 शान्ति भी पा सकेगा, प्राप्त कर इस सत्य को ॥
 स्वयं में सब प्राणियों को भावना से हीन हो ।
 मुझमें समाहित देख लोगे, ईश में तल्लीन हो ॥ (35)

(34)

सब प्राणियों से अधिक भी यदि पाप में तू रत रहे ।
 आसक्तियों को त्यागकर निज कर्म में भी रत रहे ॥
 ज्ञान नौका बैठकर इस पाप पारावार से ।
 पार होगा, मुक्त होगा, सृष्टि के व्यापार से ॥ (36)

(35)

हृदय दीपित हो उठेगा ज्ञान के आलोक से ।
 सब बन्धनों से मुक्त होगा, दूर होगा शोक से ॥
 प्रज्वलित अग्नि समिध को भस्म कर देता यथा ।
 ज्ञान भी सब कर्मजों को नष्ट कर देता तथा ॥ (37)

(36)

पावन करे जो लोक में वह ज्ञान समदूजा नहीं।
 ज्ञान का अर्जन करो है ज्ञान सम पूजा नहीं॥
 मानव सदा इस ज्ञान को अन्तःकरण में शुद्ध हो।
 आत्मा में प्राप्त करता योग में अबबुद्ध हो ॥ (38)

(37)

प्राप्त करते ज्ञान को सब श्रद्धा से या भक्ति से।
 इन्द्रियों को जीतकर फिर इन्द्रियों की शक्ति से॥
 ज्ञान पाकर नर सदा फिर प्राप्त होगा शान्ति को।
 ब्रह्म में ही लीन होता छोड़ विभ्रम भ्रान्ति को ॥ (39)

(38)

अज्ञानतम डूबा हुआ श्रद्धा रहित जो नर यहाँ।
 सन्देह लेकर आत्मा में नष्ट होता फिर यहाँ॥
 संशयी के नष्ट होते लोक भी परलोक भी।
 नष्ट होते सुख यहाँ पर और पाता शोक भी ॥ (40)

(39)

संशयों को नष्ट करता ज्ञान के आलोक से।
 परमात्मा को कर समर्पित कर्म सारे योग से॥
 कर्म सब करते हुए भी बन्धनों से दूर है।
 ऐसा मनुज ही शान्ति पाकर ज्ञान से भरपूर है ॥ (41)

(40)

हे धनञ्जय इसलिए तू ज्ञान की तलवार से।
 अज्ञान संशय काट फैंको आत्मा के पार से॥
 योग में आरूढ़ होकर प्राप्त कर पुरुषार्थ को।
 युद्ध हित तैयार हो, श्री कृष्ण बोले पार्थ को ॥ (42)

चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः

अथ पंचमोऽध्यायः

(1)

हे कृष्ण उपदेशित हुआ मैं कर्म के सन्यास से।
साथ ही मैं कर्म के इस योग के इतिहास से॥
मेरे लिए क्या श्रेय है तुम एक को बतलाइये।
मति विभ्रम हो रहा है ठीक से समझाइये ॥ (1)

(2)

भगवान बोले पार्थ सुन सन्यास भी और योग भी।
कल्याण-कारी है सदा अपकर्म भी और भोग भी॥
किन्तु साधन सहजता से योग कर्म विशिष्ट है।
प्राप्त होना ब्रह्म का जो योगियों को इष्ट है ॥ (2)

(3)

सन्यास में वह पुरुष है जो द्वेष भी करता नहीं।
राग से भी रहित है, जो चाह पर मरता नहीं॥
निर्विन्द्व रहकर लोक में जो बन्धनों से मुक्त है।
मोक्ष को पाता सदा ही ब्रह्म में ही युक्त है ॥ (3)

(4)

अज्ञान में ही पृथक् करते योग को सन्यास को।
ज्ञानी जन तो जानते हैं तमस और प्रकाश को॥
लक्ष्य दोनों एक है पर ब्रह्म को पाना यहां।
एक में स्थित भी छोटे लोक में आना यहां ॥ (4)

(5)

ज्ञान योगी प्राप्त करते अचेल ज्यों परधाम को।
कर्मयोगी भी सदा ही पहुँचते विश्राम को॥
एक ही जो देखता है ज्ञान को और कर्म को।
भली-भाँति देखता पहचानकर निज धर्म को ॥ (5)

(6)

योग बिन सन्यास भी दुष्प्राप्य है दुष्कर्म है ।
 कर्म रत परमात्मा में लीन योगी धर्म है ॥
 देह से मन इन्द्रियों से कर्म जो सम्पूर्ण है ।
 कर्तृत्व का अभिमान तज सन्यास से परिपूर्ण हैं ॥ (6)

(7)

कठिन है सन्यास में तो प्राप्त करना ईश को ।
 कर्मयोगी शीघ्र ही बस प्राप्त हो जगदीश को ॥
 अन्तःकरण से शुद्ध हो निज इन्द्रियों को जीतकर ।
 नियन्त्रित सबको करे मन बुद्धि को जो खींचकर ॥ (7)

(8)

सब प्राणियों की आत्मा में आत्मा से लिप्त है ।
 कर्म योगी कर्मरत रहता सदा निर्लिप्त है ॥
 तत्त्व ज्ञानी समझता है इन्द्रियों के कर्म को ।
 मैं नहीं कर्ता, निभाती इन्द्रियाँ निज धर्म को ॥ (7-8)

(9)

देखना, सुनना, सहज ही बोलना, जाना तथा ।
 स्पर्श करना, सूंघना और नींद में आना तथा ॥
 त्यागना और ग्रहण करना, श्वास भी लेना सदा ।
 लोचनों को खोलना और मूंद लेना सर्वदा ॥ (8-9)

(10)

सब इन्द्रियों के कर्म को जो ईश में अर्पण करें ।
 आसक्तियों से दूर होकर स्वच्छ मन दर्पण करें ॥
 कर्म सब करते हुए भी पाप का भागी नहीं ।
 कमल दल जल में यथा इस लोक में रागी नहीं ॥ (10)

(11)

कर्म योगी कर्म करते बुद्धि इन्द्री और मन से ।
 और जितने कर्म होते लोक में इस क्षणिक तन से ॥
 मोह से अति दूर होकर आत्म शुद्धि के लिए ।
 पाप को पाता नहीं सब कर्म यदि मेरे लिए ॥ (11)

(12)

कर्मयोगी कर्मफल को त्याग कर पाता यहाँ।
 परमात्मा को, आत्मा की शान्ति को जाता यहाँ॥
 कामी पुरुष इस लोक में निज कर्म फल की चाह से।
 आसक्ति में बँधता सदा ही भटक मेरी राह से ॥ (12)

(13)

सब इन्द्रियों को वश किये ही सांख्य योगी कर्म जो।
 करता निभाता लोक में बस देह व्यापी धर्म को॥
 त्यागकर सब कर्म मन से थिर हुआ अति मोद में।
 नवद्वार काया में सदा, परमात्मा की गोद में ॥ (13)

(14)

परमात्मा रचता नहीं कर्त्तव्य को और कर्म को।
 कर्मफल के योग को और देह व्यापी धर्म को॥
 प्रकृति उत्पन्न करती स्वयं सारे कर्म हैं।
 तत्त्वज्ञानी ही समझते प्रकृति के मर्म हैं ॥ (14)

(15)

सर्वव्यापी ईश तो सब पुण्य को और पाप को।
 ग्रहण करता ही नहीं है मुक्त रखता आप को॥
 अज्ञानतमसा वृत हुआ है ज्ञान का आलोक ही।
 इसलिए अज्ञान मोहित हो रहा है लोक ही ॥ (15)

(16)

नष्ट कर अज्ञान को निज आत्मा के ज्ञान से।
 कर प्रकाशित आत्मा परमात्मा के ध्यान से॥
 सूर्य सम दीपित हुआ, वह ज्ञान उनकी राह को।
 शिव बनाये विशद कर परमात्मा की चाह को ॥ (16)

(17)

ईशमय हो आत्मा और बुद्धि निष्ठा कर्म भी।
 इन्द्रियाँ भी ईशमय हो और देहिक धर्म भी॥
 ज्ञान से पावन हुआ वह ईशमय हो जायेगा।
 जन्म मृत्यु मुक्त होकर परम गति को पायेगा ॥ (17)

(18)

विद्या विनय सम्पन्न ब्राह्मण और हस्ति श्वान में।
चाण्डाल में और गाय में भी एक दृष्टि ध्यान में॥
ज्ञान से सम्पन्न नर समदृष्टि होते हैं सदा।
ईशमय सब मानते अपनत्व खोते हैं सदा॥ (18)

(19)

सृष्टि को जीता उन्होंने मन किया सम भाव में।
पराया अपना नहीं यह आ गया सब भाव में॥
वह ब्रह्म भी निर्दोष है समयोग से परिपूर्ण है।
ब्रह्म स्थित ज्ञानीजन भी ब्रह्म से ही पूर्ण है॥ (19)

(20)

प्रिय वस्तु पा जो हर्ष से और दुःख से व्याकुल नहीं।
स्थिर मति संशय रहित हो कर्म से आकुल नहीं॥
सब योग से पोषित सदा ही एक सबको जानते।
वे पुरुष ही ब्रह्म मय हो ब्रह्म को पहचानते॥ (20)

(21)

बाह्य सारे भोग में आसक्ति से जो हीन हैं।
शुद्ध मन से ब्रह्म के ही ध्यान में तल्लीन हैं॥
ध्यान से उत्पन्न, पाता सात्विक आनन्द को।
अक्षय सुखों को प्राप्त करता और पाता ब्रह्म को॥ (21)

(22)

इन्द्रियों के भोग देते सुखों का आभास है।
किन्तु इनके मूल में बस दुःख और विनाश है॥
चिर स्थायी है नहीं ये क्षणिक और अनित्य है।
पार्थ ज्ञानी जन कभी बंधते नहीं, यह सत्य है॥ (22)

(23)

तन त्यागने से पूर्व ही इस देह में रहते हुए।
क्रोध के और काम के आवेग को सहते हुए॥
आत्मसुख को प्राप्त हो रहते हुए इस लोक में।
योगी पुरुष है, वे सदा ही डूबते नहीं शोक में॥ (23)

(24)

आत्मा में सुखी जो नर आत्मा में रम रहा ।
 आत्मा में ज्ञान का प्रकाश जिसके जम रहा ॥
 परमात्मा में एक होकर शान्ति को जाता सदा ।
 योगी पुरुष ही जगत में फिर ब्रह्म को पाता सदा ॥ (24)

(25)

जिन योगियों के पाप सारे नष्ट प्रायः हो गये ।
 ज्ञान के आलोक से सब भ्रम तिरोहित हो गये ॥
 चाहते हैं हित सदा ही प्राणियों का लोक में ।
 ब्रह्म को पाते सदा नहीं डूबते हैं शोक में ॥ (25)

(26)

जीत लेते क्रोध को, मन को, सदा जो काम को ।
 ब्रह्ममय होकर सदा ही जापते हरि नाम को ॥
 उनके लिए संसार सारा ब्रह्म से परिपूर्ण है ।
 शान्ति पाते वे पुरुष ही योग में सम्पूर्ण हैं ॥ (26)

(27)

बाह्य भोगों का कभी चिन्तन नहीं करता हुआ ।
 भृकुटियों के बीच में निज दृष्टि को धरता हुआ ॥
 नासिका में विचरते सम प्राण और अपान को ।
 जीत कर मन इन्द्रियों को और बुद्धि ज्ञान को ॥ (27-28)

(28)

मोक्ष में तत्पर मुनि भय, क्रोध, इच्छा छोड़कर ।
 भव बन्धनों से मुक्त होता आत्मा को जोड़कर ॥
 परमात्मा का सतत् चिन्तन ध्यान में लाता सदा ।
 लोक में वह श्रेष्ठ होकर योगी कहलाता सदा ॥ (27-28)

(29)

जो भक्त मुझको जानता सब लोक का स्वामी सदा ।
 यज्ञ तप का भोक्ता और सर्व हितकामी सदा ॥
 सब प्राणियों का मित्र भी और मोक्ष का दाता मुझे ।
 जानकर इस तत्त्व को फिर शान्ति को पाता मुझे ॥ (29)

अथ षष्ठोऽध्यायः

(1)

आश्रय नहीं ले कर्मफल करणीय करते कर्म हैं ।
योग का सन्यास का वे पुरुष रखते धर्म हैं ॥
अग्नि का बस त्याग ही सन्यास कहलाता नहीं ।
क्रियाओं से दूर रहना योग में आता नहीं ॥ (1)

(2)

लोक में सन्यास भी बस योग का ही नाम है ।
हे धनञ्जय जान लो तुम एकसा ही काम है ॥
त्यागकर संकल्प को ही पुरुष आता योग में ।
संकल्प ले जाता सदा ही घेर कर फिर भोग में ॥ (2)

(3)

योग-पथ आरूढ़ नर जो चाहते इस कर्म को ।
निष्काम कर्मी रह सदा ही पास के इस धर्म को ॥
योग में संकल्प सारे दूर हो जाते सदा ।
दूर रह संकल्प से फिर शान्ति चिर पाते सदा ॥ (3)

(4)

इन्द्रियों के भोग से आसक्तियाँ जब दूर हों ।
कर्म आसक्ति तजे इस योग में भरपूर हो ॥
संकल्प सारे त्यागकर, योगी पुरुष कहलायेगा ।
ब्रह्म में तल्लीन होकर, शान्ति को ही पायेगा ॥ (4)

(5)

उद्धार करता आत्मा का योगी इस संसार से ।
पीड़ित कभी होता नहीं इस सृष्टि के व्यापार से ॥
आत्मा ही मित्र है इस सत्य को वह जानता ।
आत्मा ही शत्रु है, तब ब्रह्म को पहचानता ॥ (5)

(6)

जीतकर मन इन्द्रियों को जीतकर निज देह को।
मित्र है, उस आत्मा को मेट कर सन्देह को॥
जो न जीते इन्द्रियों को, देह को, मन को यहाँ।
वह आत्मा ही शत्रु है, पहचानता उनको यहाँ॥ (6)

(7)

आत्मा जीता हुआ नर और मन से शान्त ही।
परमात्मा में थिर हुआ होता नहीं नर भ्रान्त ही॥
शान्त है जो सुख दुःखों में और मानामान में।
संसार त्यागी पुरुष रहता ब्रह्म के ही ध्यान में॥ (7)

(8)

ज्ञान से विज्ञान से जो आत्मा में तृप्त है।
इन्द्रियों को जीतकर होता नहीं संतप्त है॥
लोह-पत्थर और कंचन एक सा ही जानता।
वास्तव में वह पुरुष ही ईश को पहचानता॥ (8)

(9)

निस्वार्थ हित चिन्तक सदा ही सुहृत् होता लोक में।
उदासी रहते नहीं हैं हर्ष में या शोक में॥
हित चाहते हैं बस सदा मध्यस्थ दोनों ओर का।
योगी भी समभाव से हित चाहते सब ओर का॥ (9)

(10)

मित्र, शत्रु और सुहृत् में, द्वेष करने योग्य में।
उदासी, मध्यस्थ, पापी, भोग में और भोग्य में॥
बान्धवों में, गुरुजनों में साधुओं में भी सदा।
समदृष्टि रखता जो पुरुष वह श्रेष्ठ नर है सर्वदा॥ (9)

(11)

मन, इन्द्रियों को और तन को नियन्त्रित करता हुआ।
आशा रहित सब संचयों से दूर पग धरता हुआ॥
योगी सतत एकान्त में ही वास भी करते हुए।
परमात्मा में लौ लगाले योग में चरते हुए॥ (10)

(12)

शुद्ध भूमि देखकर स्थापित स्वयं आसन करे।
 कुशा मृग छाला बिछाकर वस्त्र आच्छादन करे॥
 अधिक ऊँचा और नीचा हो नहीं आसन कभी।
 योग के अभ्यास में हो आत्म अनुशासन तभी॥ (11)

(13)

इन्द्रियों से जनित सारे कर्म हैं इस लोक में।
 वश्यकर एकाग्र मन हो लौ लगा परलोक में॥
 आत्मा क्री शुद्धि हित ही योग के अभ्यास में।
 एकान्त आसन ग्रहण, रखकर ब्रह्म को हर श्वास में॥ (12)

(14)

सम बनाकर शिर गले को और वैसी देह को।
 अचल रख, स्थिर हुआ जो मिटा सब सन्देह को॥
 दृष्टि को केन्द्रित करे फिर नासिका के भाग पर।
 नेत्र मूँदे अचल हो ज्यों सो रहा हो जागंकर॥ (13)

(15)

ब्रह्मचर्य पालन करे और रहित हो सब भीति से।
 मन नियन्त्रित आत्मा को शान्त रख हर रीति से॥
 मुझ में लगाकर चित्त अपना मत्परायण हो सदा।
 परम शान्ति प्राप्त करता लोक में वह सर्वदा॥ (14)

(16)

आत्मा मुझमें लगाये चित्त नियन्त्रण में किये।
 आनन्द की उत्कृष्टता को प्राप्त निज मन में किये॥
 प्राप्त करता शान्ति को और मोक्ष भी पाता सदा।
 छोड़कर सब बन्धनों को ब्रह्म को जाता सदा॥ (15)

(17)

पार्थ यह जो योग है वह भूख से होना नहीं।
 अधिक खाने में नहीं और अधिक भी सोना नहीं॥
 न तो अधिक जागरण से योग सम्भव है कभी।
 सम रहे सब काल योगी योग सम्भव है तभी॥ (16)

(18)

दुःख नाशक योग है उपयुक्ताहार विहार में।
 उपयुक्त चेष्टा रत रहे हर कर्म के व्यापार में॥
 उपयुक्त सोना जागना भी योग का आधार है।
 योग सिद्धि कठिन है तलवार की ज्यों धार है ॥ (17)

(19)

चित्त जब वश में किये परमात्मा में लीन हो।
 जिस काल में ही कर्म की सब कामना से हीन हो॥
 आत्मा में स्थित हुआ सब ओर से सम्पूर्ण है।
 लोग कहते हैं उसे तब योग में परिपूर्ण है ॥ (18)

(20)

वायु रहित स्थान में ज्यों दीप लौ कंपती नहीं।
 चित्त वृत्ति भी तथा ही भोग से तपती नहीं॥
 योग के अभ्यास से जब चित वृत्ति रुक गई।
 शान्त हो सन्तुष्ट हो परमात्मा में झुक गई ॥ (19-20)

(21)

इन्द्रियों से परे जो सुख सूक्ष्म मति से ग्राह्य है।
 वही परमानन्द है इन्द्रिय सुख तो बाह्य है॥
 उस दशा में पहुँच योगी अचल हो जाता तभी।
 देखकर परब्रह्म को विचलित नहीं होता कभी ॥ (21)

(22)

ब्रह्म दर्शन लाभ जिसको मिल गया हो योग से।
 और सारे तुच्छ हैं जो प्राप्त होते भोग से॥
 ब्रह्म मय होकर तपस्वी जब कभी भी लोक से।
 कष्ट कितने हो बड़े पीड़ित न होते शोक से ॥ (22)

(23)

शोक सागर लोक के संयोग से जो रिक्त है।
 योग कहते हैं उसे जो योग में आसक्त है॥
 उत्साहपूर्वक धैर्य से वह योग करना चाहिए।
 दृढ़ कल्प करके योग में सबको विचरना चाहिए ॥ (23)

(24)

संकल्प से उत्पन्न होती कामना को छोड़कर ।
 इन्द्रियों को चित की वल्गा से सम्यक् जोड़कर ॥
 चित को फिर बुद्धि से ही ब्रह्ममय करते हुए ।
 चिन्तन करे परमात्मा का योग में चरते हुए ॥ (24-25)

(25)

चंचल हुआ अस्थिर हुआ मन जब कभी भी भोग से ।
 परमात्मा में ही लगा दे नियन्त्रित कर योग से ॥
 जिस योग में मन शान्त है और रजोगुण भी शान्त ही ।
 ब्रह्म मय सुख प्राप्त कर होता नहीं मन भ्रान्त ही ॥ (26-27)

(26)

निष्पाप होकर आत्मा को जोड़ लेता ईश में ।
 अस्तित्व खोकर शान्ति पा गंगा यथा जलधीश में ॥
 योग में संलग्न योगी, ब्रह्म को पाता सदा ।
 अत्यन्त सुख को प्राप्त करता ब्रह्म में जाता सदा ॥ (28)

(27)

योग दीपित आत्मा योगी सदा सम भाव से ।
 सब प्राणियों को आत्मा में देखता सद्भाव से ॥
 सब प्राणियों में आत्मा को समाहित वह जानता ।
 परमयोगी वह पुरुष है ब्रह्म को पहचानता ॥ (29)

(28)

सृष्टि के हर एक कण में जो मुझे पहचानता ।
 और सारी सृष्टि को मुझमें समाहित मानता ॥
 उसके लिए प्रत्यक्ष हूँ अदृश्य में होता नहीं ।
 साथ रहता हूँ सदा ही, याद भी खोता नहीं ॥ (30)

(29)

जो जानता सब प्राणियों में एक मेरा वास है ।
 अनन्य हो भजता मुझे वह सदा मेरे पास है ॥
 कर्म सब करते हुए भी दूर उसको मान लो ।
 कर्म वह करता नहीं सब कर्म मेरे जान लो ॥ (31)

(30)

आत्म सम जो देखता सब प्राणियों को ध्यान से ।
 सब दुःखों में एक सा रहता सदा जो ज्ञान से ॥
 अर्जुन सुनो वह परम योगी ज्ञात है संसार में ।
 निष्पाप है हर काल में हर कर्म के व्यापार में ॥ (32)

(31)

हे कृष्ण इस सम योग का वर्णन किया तुमने अभी ।
 ऐसा दिखाई दे रहा है, पा सकूंगा क्या कभी ॥
 योग की स्थिर अवस्था मन रहा चंचल महा ।
 पा सकूंगा कृष्ण बोलो, पाण्डु नन्दन ने कहा ॥ (33)

(32)

हे कृष्ण मन चंचल महा बलवान है उद्दण्ड है ।
 नियन्त्रित करना कठिन है अतिवेग प्रचण्ड है ॥
 वायु को है बांधना ज्यों कर्म अति दुष्कर महा ।
 मन की गति को रोकना, यह वीर अर्जुन ने कहा ॥ (34)

(33)

श्रीकृष्ण बोले पार्थ सुन यह बात बिल्कुल ठीक है ।
 बाँधना चंचल महा मन, नीर में ज्यों लीक है ॥
 किन्तु अर्जुन वश्य होगा यह सतत अभ्यास से ।
 वैराग्य मन को रोकता है कठिनतम आयास से ॥ (35)

(34)

वश में नहीं मन योग की आशा दुराशा मात्र है ।
 मन नियन्त्रित पुरुष ही बस योग का सत्पात्र है ॥
 फिर यत्न की ही सहजता से लग्न होता योग से ।
 मैं मानता हूँ वह पुरुष ही मुक्त है हर भोग से ॥ (36)

(35)

तब पार्थ बोला हे हरे जो पुरुष योगासक्त है ।
 किन्तु संयम में नहीं है चित भोगासक्त है ॥
 अन्त में विचलित हुआ मन भ्रष्ट होता योग से ।
 उसकी गति क्या है प्रभो वह तापता किस भोग से ॥ (37)

(36)

ब्रह्म के. उस मार्ग में मोहित हुआ वह नर कहीं।
छिन्न बादल की तरह ही निराश्रित होकर कहीं॥
योग पथ से भ्रष्ट होता ब्रह्म से भी दूर हो।
नष्ट दोनों ओर से भी दुःख में भरपूर हो ॥ (38)

(37)

इसलिए हे कृष्ण मेरे मानसिक सन्देह को।
पूर्णता से दूर कर दो शान्ति दो इस देह को॥
इस समय इस लोक में ही आप सम ज्ञानी नहीं।
जो काट दे सन्देह को बस आपका सानी नहीं ॥ (39)

(38)

हे धनञ्जय ऐसे नर का नाश तो होता नहीं।
लोक की तो बात क्या परलोक भी खोता नहीं॥
वे पुरुष इस लोक में कर यत्न आत्मोद्धार का।
दुर्गति पाते नहीं यह नियम है संसार का ॥ (40)

(39)

योग पथ से भ्रष्ट योगी स्वर्ग में जाते सदा।
अन्तःकरण से शुद्ध हो फिर भूमि पर आते सदा॥
शुद्ध सात्विक उच्च कुल में जन्म ले पलते सदा।
ब्रह्म ही की कामना से योग-पथ चलते सदा ॥ (41)

(40)

स्वर्ग में जाते नहीं यदि योगियों के वंश में।
जन्म पाते पुण्य से फिर ब्रह्म के ही अंश में॥
जन्म पाना इस तरह दुर्लभ रहा संसार में।
फिर नहीं फंसता कभी इस विश्व के व्यापार में ॥ (42)

(41)

सम बुद्धि के संस्कार को वह पूर्व देहिक कर्म को।
प्राप्त करता सहजता से योग कर्मी धर्म को॥
परमात्मा को प्राप्त करने वह पुनः जुट जायेगा।
विश्व के सब कर्मजों के पाप से छुट जायेगा ॥ (43)

(42)

जन्म ले पथ भ्रष्ट योगी पूर्व के अभ्यास से ।
 परवश हुआ भी ब्रह्म को भजता सदा हर श्वास से ॥
 जिज्ञासु हो समबुद्धि में वह वेदवर्णित धर्म को ।
 छोड़ देता है परे सब ज्ञान योगी कर्म को ॥ (44)

(43)

यत्न अभ्यासी यति तो योग के इस कर्म को ।
 संस्कार से ही पूर्व देहिक पा सकें निज धर्म को ॥
 इस जन्म में ही सिद्धि पाता मुक्त हो सब पाप से ।
 मोक्ष को पाता सदा ही ब्रह्ममय हो आप से ॥ (45)

(44)

तप धारियों में श्रेष्ठ है योगी सदा संसार में ।
 ज्ञानियों में श्रेष्ठ भी है जगत के विस्तार में ॥
 सकाम कर्मी व्यक्तियों से श्रेष्ठ भी माना गया ।
 इस लोक में हर प्राणियों से श्रेष्ठ पहचाना गया ॥ (46)

(45)

इसलिए हे पार्थ तुम भी योग को अपना सको ।
 योग मय हो तत्त्वदर्शी और मुझको पा सको ॥
 श्रद्धा सहित जो योगियों में आत्मा से शुद्ध हो ।
 श्रेष्ठ उसको मानता जो योग कर्म प्रबुद्ध हो ॥ (46-47)

षष्ठोऽध्यायः समाप्तः

अथ सप्तमोऽध्यायः

(1)

योग में चलते हुए सब कर्म मुझ पर छोड़कर ।
 एक मन से चित्त की आसक्ति मुझमें जोड़कर ॥
 संशय रहित हो जिस तरह तुम पास को पुरुषार्थ को ।
 मैं बताता हूँ सुनो श्रीकृष्ण बोले पार्थ को ॥ (1)

(2)

तेरे लिए विज्ञानयुत इस ज्ञान के सब तत्व को ।
 मैं बताऊंगा तुम्हें फिर खोल सारे तथ्य को ॥
 जान कर जिसको कि फिर बचता नहीं संसार में ।
 ज्ञान की सम्पूर्णता को कह रहा विस्तार में ॥ (2)

(3)

हजारों में एक कोई सिद्धि की इच्छा लिए ।
 यत्न करता शान्त मन हो ब्रह्म की शिक्षा लिए ॥
 यत्नकर्ता योगियों में कोई आगे आ सके ।
 तत्व को जो जान ले मुझ ब्रह्म को जो पा सकें ॥ (3)

(4)

पृथ्वी जल और अग्नि वायु गगन बुद्धि मन तथा ।
 अहं को लेते हुए मम प्रकृति समझो अष्टधा ॥
 आठ इनमें जड़ प्रकृति अपरा इन्हें तुम जान लो ।
 जीवरूपा परा चेतन विश्व में पहचान लो ॥ (4-5)

(5)

उत्पत्ति होती प्राणियों की इन सभी के योग से ।
 मैं ही रचता हूँ सदा इस सृष्टि को संयोग से ॥
 रचयिता मैं सृष्टि का और नाश भी करता सदा ।
 अर्जुन बताता हूँ तुम्हें मैं सृष्टि में चरता सदा ॥ (6)

(6)

मेरे अलावा अन्य कोई सृष्टि का कारण नहीं।
 नाशकर्ता जगत का और विश्व का धारण नहीं ॥
 हार में मणियाँ पिरोई गुंथी रहती है यथा।
 उस भांति सारा जगत भी मुझ में गुंथा है सर्वदा ॥ (7)

(7)

नीर में रस हूँ सदा ही तेज शशि आदित्य का।
 प्रणव हूँ सब वेद में और शब्द नभ में नित्य का ॥
 अर्जुन सुनो सब जगत का पुरुषत्व भी हूँ मैं सदा।
 सृष्टि के हर एक अणु में व्याप्त रहता सर्वदा ॥ (8)

(8)

भूमि-पावन गन्ध भी अर्जुन मुझे ही जान लो।
 अनल में जो तेज है वह भी मुझे ही मान लो ॥
 सब प्राणियों की जिन्दगी हूँ मूल होता नाश का।
 तपधारियों का तप सदा स्तम्भ हूँ विश्वास का ॥ (9)

(9)

सब प्राणियों का मैं सनातन बीज भी हूँ सर्वदा।
 तेजस्वियों का तेज भी बन व्याप्त रहता हूँ सदा ॥
 बुद्धिमानों में सदा रहता हूँ बुद्धि रूप में।
 पार्थ कहता हूँ तुझे राजत्व बनकर भूप में ॥ (10)

(10)

आसक्ति इच्छा से रहित बल हूँ सदा बलवान का।
 प्राणियों में धर्म के अनुसार फलहूँ काम का ॥
 तीनों गुणों के भाव को मुझ में समाहित मान लो।
 किन्तु वे मुझमें नहीं और मैं नहीं यह जान लो ॥ (11-12)

(11)

सत् रजो तम तीन गुण से मोह को पाकर सभी।
 पर ब्रह्म अविनाशी मुझे नहीं देख पाते हैं कभी ॥
 बाधित नहीं मैं इन गुणों से दूर ही रहता सदा।
 ज्ञान चक्षु के बिना सम्भव नहीं है सर्वथा ॥ (13)

(12)

तीन गुण की मोहिनी माया बड़ी दुश्वार है।
 उलझ जाता लोक इसमें कठिन पाना पार है॥
 भज रहे मुझको निरन्तर एक मन से सर्वदा।
 वे पुरुष ही पार हो संसार से तरते सदा॥ (14)

(13)

माया विमोहित हो सदा जो ज्ञान चक्षु अन्ध हैं।
 रजनीचरों के भाव से व्याकुल हुए मति मन्द हैं॥
 पापकर्मी नीच वे मुझको कभी भजते नहीं।
 फंसकर सदा इस व्यूह में संसार को तजते नहीं॥ (15)

(14)

अर्जुन सुनो बस चार जन मुझको सदा गाते रहे।
 दुःखी जन इस लोक में जो कष्ट ही पाते रहे॥
 अर्थ सिद्धि के लिए भी याद करते हैं मुझे।
 तत्त्व मेरा जानने को चित्त में धरते मुझे॥ (16)

(15)

ज्ञानी पुरुष कल्याण हित ही मोक्ष पाने के लिए।
 भजते मुझे निज चित्त में परलोक जाने के लिए॥
 मुझमें लगा ज्ञानी पुरुष ही प्रिय मुझे है अन्य से।
 उसके लिए मैं प्रेय हूँ वह भक्त भक्तिजन्य से॥ (16-17)

(16)

उदार है सब भक्त मेरे ज्ञानी परम अनूप हैं।
 मन बुद्धि मुझमें स्थिर किये साक्षात् मेरा रूप है॥
 उत्तम गति को प्राप्त हो मुझमें समा जाते सदा।
 निष्पाप होकर अन्त में वे मोक्ष को पाते सदा॥ (18)

(17)

जन्म लेकर जो बहुत से हैं मुझे भजते रहे।
 तत्त्व ज्ञानी अन्त में हो, सृष्टि को तजते रहे॥
 दुर्लभ महाजन सन्त वे मुझमें समा जाते सदा।
 रूप मेरा ही सदा है मुक्ति को पाते सदा॥ (19)

(18)

कामनाओं का तमस है ज्ञान के आलोक को ।
 नष्ट करता है सदा ही, जन्म देता शोक को ॥
 कामना की पूर्ति हित ही अन्य को भेजते हैं जो ।
 नियम भी उस देवता के चित्त में धरते हैं जो ॥ (20)

(19)

श्रद्धा सहित जो पूजते हैं जिस किसी भी देव को ।
 अचल श्रद्धा मैं बनाता उस पुरुष की सेव को ॥
 देवता मेरे नियम से पूर्ति करता काम की ।
 भोग पाता ख्याति होती देवता के नाम की ॥ (21-22)

(20)

किन्तु ऐसी कामना का फल सदा नश्वर रहे ।
 मन्द बुद्धि पुरुष का बस देवता ईश्वर रहे ॥
 और मेरे भक्त भजते जो किसी भी रीति से ।
 प्राप्त मुझको अन्त में सब छूटते भव भीति से ॥ (23)

(21)

अज्ञान तमसावृत पुरुष ईशत्व को नहीं जानते ।
 जन्म मृत्यु लिप्त व्यक्ति ही मुझे पहचानते ॥
 योग मायाछत्र मैं प्रत्यक्ष भी होता नहीं ।
 मूर्ख अज्ञानी जगत को ज्ञान यह होता नहीं ॥ (24-25)

(22)

पार्थ मैं सब जानता हूँ जगत के प्राणी सभी ।
 कौन थे क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी ॥
 किन्तु श्रद्धा रहित व्यक्ति जानता मुझको नहीं ।
 अविनाशी मैं ईश हूँ पहचानता मुझ को नहीं ॥ (26)

(23)

कामना अभिभूत व्यक्ति मोह से और द्वेष से ।
 अज्ञता को प्राप्त होते और पीड़ित क्लेश से ॥
 पुण्य कर्मी पुरुष मुझको भज रहे निष्पाप हो ।
 दृढ़ कल्प होकर मोह से भी मुक्त अपने आप हो ॥ (27-28)

(24)

जन्म मृत्यु बन्धनों की मुक्ति हित सन्नद्ध है ।
 यत्न करते हैं सदा ही शरण में आवद्ध हैं ॥
 जानते हैं ब्रह्म को भी और सारे कर्म को ।
 आध्यात्म को भी जानते हैं और सारे मर्म को ॥ (29)

(25)

सब प्राणियों में देवता में जो मुझे है जानते ।
 यज्ञ में सब कर्म में सबसे प्रथम पहचानते ॥
 मुझमें लगाकर चित्त अपना साधते सब कर्म को ।
 अन्त में पाते मुझे सम्पन्न कर निज धर्म को ॥ (30)

सप्तमोऽध्यायः समाप्तः

अथ अष्टमोऽध्यायः

(1)

कौन्तेय बोला हे नरोत्तम ब्रह्म की पहचान क्या ।
आध्यात्म क्या है, कर्म क्या, अधिभूत विषयक ज्ञान क्या ?
अधिदैव किसको जानलें यह तो मुझे बतलाइये ।
अधियज्ञ क्या इस देह में सब खोलकर समझाइये ॥ (1-2)

(2)

अन्तिम समय में पुरुष कैसे चित्त को नियमित किये ।
जानता है आपको निज वृत्तियाँ सीमित किये ॥
प्रश्न सुन कौन्तेय के श्रीकृष्ण ने प्रमुदित महा ।
मैं बताता खोलकर यह पाण्डु नन्दन को कहा ॥ (2)

(3)

परम अक्षर ब्रह्म है, आध्यात्म आत्मा भाग ही ।
सब प्राणियों के भाव को उत्पन्नकर्ता त्याग ही ॥
कर्म कहलाता सदा यह समझ लो और जान लो ।
अधिभूत नश्वर जगत को तुम नाम से पहचान लो ॥ (3-4)

(4)

सृष्टिकर्ता ब्रह्म ही, अधिदेवता के नाम से ।
लोक में प्रख्यात है निज नाम से और काम से ॥
इस देह में अधियज्ञ मैं हूँ पार्थ निश्चय जान लो ।
अन्तर्यामी ईश हूँ इस सत्य को पहचान लो ॥ (4)

(5)

अन्तिम समय में याद करके छोड़ता जो देह को ।
प्राप्त करता रूप मेरा छोड़ सब सन्देह को ॥
अन्तिम समय जिस भाव से भी ग्रसित होता नर यहाँ ।
प्राप्त होता है सदा ही भाव को पाकर यहाँ ॥ (5-6)

(6)

इसलिए हर काल मुझको याद तुम करते हुए।
 युद्धकर मन बुद्धि को अर्पण मुझे करते हुए॥
 इस भांति तुम तत्पर हुए इस युद्ध से संयुक्त हो।
 प्राप्त मुझको कर सको सब बन्धनों से मुक्त हो ॥ (7)

(7)

परमात्मा के ध्यान के अभ्यास में जो रत रहे।
 योग से संयुक्त होकर चित्त भी अनुरत रहे॥
 स्वप्रकाशित ईश को चिन्तन सदा करते हुए।
 प्राप्त करता ब्रह्म को फिर योग में चरते हुए॥ (8)

(8)

परमात्मा सर्वज्ञ है और आदि अन्त विहीन है।
 नियन्त्रक है सृष्टि का प्रत्येक अणु में लीन है॥
 रचता मिटाता सृष्टि को पालन वही करता सदा।
 नित्य चेतन सूर्य सम आलोक भी भरता सदा॥ (9)

(9)

अविद्या से दूर है और परम सुख का मूल है।
 याद करता जो पुरुष उसमें सदा अनुकूल है॥
 अन्तिम समय में वह पुरुष यदि अचल मन से भक्ति से।
 नियन्त्रित कर इन्द्रियों को योगबल की शक्ति से॥ (9-10)

(10)

भृकुटियों के मध्य में निज प्राण को रखते हुए।
 देखता है, प्राप्त करता दिव्य रस चखते हुए॥
 वेद कहते हैं जिसे वह जन्म मृत्यु हीन है।
 योगी तपस्वी रात दिन जिस ध्यान में तल्लीन है॥ (10-11)

(11)

ब्रह्मचारी व्रत लिये, जिसको सदा गाते रहे।
 सज्ञान पण्डित अव्ययी अविच्छेद बतलाते रहे॥
 परम पदवी ब्रह्म को जो प्राप्त हो पुरुषार्थ से।
 संक्षेप में तुझको बताता कृष्ण बोले पार्थ से॥ (11)

(12)

इन्द्रियों के द्वार को अवरुद्ध कर मन जीत कर।
हृदय में स्थापित करे फिर प्राण मन से खींचकर ॥
स्थिर करे निजशीश में और योग में चरते हुए।
प्रणव उच्चारण करे मन ब्रह्म में धरते हुए ॥ (12-13)

(13)

चिन्तन करे मुझ ब्रह्म का जब त्यागते निज देह को।
परम गति को प्राप्त करता छोड़ सब सन्देह को ॥
एक मन से पार्थ जो नर रात दिन गाता मुझे।
योगरत योगी पुरुष ही सहज में पाता मुझे ॥ (13-14)

(14)

परमसिद्धि प्राप्त योगी ध्यान में लाकर मुझे।
जन्म मृत्यु बन्धनों से मुक्त हो पाकर मुझे ॥
कष्ट पूरित जगत् नश्वर को कभी आते नहीं।
मुझमें समाहित हो सदा फिर जन्म भी पाते नहीं ॥ (15)

(15)

काल सीमा में बंधे हैं लोक और परलोक भी।
स्वर्ग भी और ब्रह्म भी शाश्वत नहीं होते कभी ॥
समय सीमा बीतते ही जन्म फिर होता यहाँ।
काल सीमा से परे मैं काल भी खोता यहाँ ॥ (16)

(16)

पाकर मुझे हे पार्थ नर फिर लोक में आता नहीं।
मुक्त हो सब बन्धनों से जन्म फिर पाता नहीं ॥
सहस्र युग की अवधि तक की ब्रह्म की होती घड़ी।
जितना होता दिन बड़ा ही रात भी होती बड़ी ॥ (16-17)

(17)

इस तत्त्व को जो जानते योगी तपस्वी ज्ञान से।
काल के इस चक्र को पहचानते हैं ध्यान से ॥
ब्रह्म के दिवसागमन में सृष्टि के सब चर अचर।
ब्रह्म से उत्पन्न होते देवता भी और नर ॥ (17-18)

(18)

रात के फिर आगमन से ब्रह्म में ही लीन हो।
चक्र चलता यह सदा ही प्रलय में सब क्षीण हो॥
प्रकृति परवश हुआ उत्पन्न होता है पुनः।
अर्जुन निशा के आगमन पर नष्ट होता है पुनः॥ (18-19)

(19)

ब्रह्म तो अव्यक्त है उससे परे भी 'अन्य' है।
जो विलक्षण है सनातन प्रकृति से जन्य है॥
ब्रह्म की इस रात में भी नाश वह होता नहीं।
प्रलय की उस काल निद्रा में कभी सोता नहीं॥ (20)

(20)

वह पुरुष अव्यक्त अक्षर नाम से विख्यात है।
परम गति कहते उसे ही सनातन है ख्यात है॥
धाम मेरा है परन्तप प्राप्त जिसको कर सदा।
सृष्टि में आता नहीं मुझमें समाहित नर सदा॥ (21)

(21)

पार्थ जिस परमात्मा में निहित सारी सृष्टि है।
और सारे चराचर में व्याप्त जिसकी दृष्टि है॥
वह सनातन पुरुष तो बस प्राप्त होता भक्ति से।
है अगोचर अगम मिलता ज्ञान की ही शक्ति से॥ (22)

(22)

अन्तिम समय जिस मार्ग से जाकर कभी आते नहीं।
उस मार्ग को कहता हूँ मैं हर पुरुष वह पाते नहीं॥
और जो जिस मार्ग से फिर लौटकर आना पड़े।
वह भी कहूँगा योगियों के मार्ग हैं कितने कड़े॥ (23)

(23)

ज्योतिर्मयी जिस पथ अनल का देवता भासित रहे।
और दिन का देवता जिस मार्ग उद्भासित रहे॥
शुक्ल पक्षी देवता जिस मार्ग में साधित रहे।
उत्तरायण मास का भी दैव न बाधित रहे॥ (24)

(24)

ब्रह्मवेत्ता योगी जन उस मार्ग से मरकर सदा ।
 देवता ले जायेंगे उस पुरुष को धरकर सदा ॥
 उस मार्ग जाकर योगी जन फिर जन्म भी पाता नहीं ।
 ब्रह्म को ही प्राप्त होकर लौटकर आता नहीं ॥ (25)

(25)

देव यानी मार्ग है यह जो अभी मैंने कहा ।
 पितृयानी मार्ग को अब मैं बताता हूँ यहां ॥
 जिस मार्ग में हो देवता बस धूम के अभिमान का ।
 निशा का भी देवता हो कृष्ण पक्षी ज्ञान का ॥ (26)

(26)

दक्षिणायन मास का भी देवता जिस पथ रहे ।
 काम कर्मी पुरुष जो कि योग में भी रत रहे ॥
 मरकर सदा दैवत्व बल से चन्द्रमा की कान्ति को ।
 प्राप्त होकर स्वर्ग पाता और पाता शान्ति को ॥ (25)

(27)

भोग फल शुभ कर्म अपने लौट कर आता यहाँ ।
 बन्धनों में बंध सदा ही जन्म फिर पाता यहाँ ॥
 शुक्ल है और कृष्ण है बस दो सनातन पंथ है ।
 देवयानी पितृयानी कह रहे सद्ग्रन्थ हैं ॥ (25-26)

(28)

एक पथ से जो सदा नर लौट कर आता नहीं ।
 दूसरे से जन्म लेता ब्रह्म को पाता नहीं ॥
 मोहित नहीं होते कभी, जो दो पथों को जानते ।
 समबुद्धि ही के योग से निज मार्ग को पहचानते ॥ (26-27)

(29)

इसलिए हे पार्थ तुम समबुद्धि से संयुक्त हो ।
 हर काल में मम प्राप्ति हित सब बन्धनों से मुक्त हो ॥
 योगी पुरुष इस भेद को जो तत्त्व से ही जानते ।
 सब कर्म फल को लांघकर उस ब्रह्म को पहचानते ॥ (27-28)

अथ अष्टमोऽध्यायः

(57)

(30)

वेद के अध्ययन में, तप ज्ञान में और दान में ।
पुण्य फल वर्णित उसे बस छोड़कर निज ध्यान में ॥
अग्रसर हो प्राप्त करता परमपद शाश्वत महा ।
पुरुषार्थ कर हे पार्थ तू भी कृष्ण ने फिर से कहा ॥
अष्टमोऽध्यायः समाप्तः

(28)

अथ नवमोऽध्यायः

(1)

दोष दृष्टि रहित तू तो भक्त मेरा मित्र है ।
 फिर से कहूँगा ज्ञान को, जो गोपनीय विचित्र है ॥
 विज्ञान से जो मुक्त है और श्रवण करने योग्य है ।
 जानकर दुःख मुक्त होगा जगत् में जो भोग्य है ॥ (1)

(2)

सर्व विद्या श्रेष्ठ है विज्ञान युत-वह ज्ञान है ।
 गोप्यमें राजा है वह और पावनोत्तम ध्यान है ॥
 धर्म सम्भत सुगम है प्रत्यक्ष फलदाता यहाँ ।
 अव्यक्त अविनाशी सदा ही मोक्ष को पाता यहाँ ॥ (2)

(3)

श्रद्धा रहित इस ज्ञान में, जो पुरुष रहते हैं सदा ।
 प्राप्त मैं होता नहीं वे दूर मुझसे सर्वदा ॥
 जन्म मृत्यु चक्र में फँसकर सदा रहते हुए ।
 मोक्ष को पाते नहीं भव-कष्ट सब कहते हुए ॥ (3)

(4)

मुझ निराकारी ब्रह्म से ही व्याप्त सब संसार है ।
 जिस भाँति जमकर बर्फ भी बस नीर का ही सार है ॥
 चेतन अचेतन जगत् सब मुझ में समाहित है सदा ।
 वस्तुतः उनमें नहीं मैं दूर हूँ स्थित सदा ॥ (4)

(5)

उत्पन्न करता चर अचर को किन्तु उनसे दूर हूँ ।
 उनमें कभी रहता नहीं पर व्याप्त हूँ भरपूर हूँ ॥
 पावन सदा करते हुए निर्लिप्त रहता हूँ सदा ।
 योग माया प्रबल है हे पार्थ समझो सर्वदा ॥ (5)

(6)

सर्वगामी पवन ज्यों आकाश से उत्पन्न हो।
 शून्य में स्थित रहे अति प्रबलता सम्पन्न हो॥
 जन्म मुझसे पा सदा सब भूतगण भी मान लो।
 मुझमें समाहित है सदा इस तत्त्व को पहचान लो॥ (6)

(7)

कल्प का जब अन्त होता सृष्टि का भी हास हो।
 प्रकृति में लीन होते चर अचर का नाश हो॥
 कल्प के आरम्भ में नव सृष्टि का निर्माण कर।
 भूत गण उत्पन्न करता मैं उन्हीं का त्राण कर॥ (7)

(8)

भाव परवश भूतगण निज कर्म के अनुसार ही।
 सृजन करता मैं पुनः यह सृष्टि का व्यापार ही॥
 किन्तु आसक्ति रहित, मुझको न बन्धन कर्म का।
 कर्तृत्व से भी दूर हूँ यह ज्ञान मेरे मर्म का॥ (8-9)

(9)

मुझ नियन्ता योग से इस सृष्टि का सर्जन सभी।
 प्रकृति करती रहे संसार का अर्जन सभी॥
 चल रहा है चक्र यह इस भांति इस संसार का।
 नष्ट होना, जन्म लेना जगत के व्यापार का॥ (10)

(10)

मूढमति जो लोग है वे जानते मुझको नहीं।
 परमेश हूँ इस सृष्टि का पहचानते मुझको नहीं॥
 संसार के उद्धार को मैं सृष्टि में आता रहा।
 अज्ञानियों की दृष्टि में सामान्य कहलाता रहा॥ (11)

(11)

व्यर्थ उनका ज्ञान है और व्यर्थ उनका कर्म है।
 व्यर्थ आशा के लिए बस आसुरी ही धर्म है॥
 चित्त है व्याकुल सदा अज्ञान से भरपूर है।
 प्रकृति मोहित हुए मुझसे सदा वे दूर हैं॥ (12)

(12)

किन्तु अर्जुन भज रहे जो ज्ञान के आकर सदा ।
 दैवत्व भावों से विभूषित महात्मा ही नर सदा ॥
 मूल कारण चर अचर का जानते मुझ ईश को ।
 एक मन से भज रहे मुझ अव्ययी जगदीश को ॥ (13)

(13)

दृढ़ निश्चयी वे भक्त जन गुणगान भी करते सदा ।
 हो मगन मेरे ध्यान में ही यत्न करते सर्वदा ॥
 प्राप्ति हित मेरी निरन्तर नमन भी करते हुए ।
 प्रेम से पूजा करे निजध्यान में धरते हुए ॥ (14)

(14)

ज्ञान के ही यज्ञ से सब ज्ञान योगी भी यहाँ ।
 निराकारी ब्रह्म को सन्यास भोगी भी यहाँ ॥
 पूजते हैं अन्य नर भी दूसरे ही भाव से ।
 अर्चना करते सदा ही प्राप्ति की चाह से ॥ (15)

(15)

यज्ञ कर्ता, यज्ञ मैं, आहुतियाँ और मंत्र भी ।
 औषधि धृत मैं, अनल हूँ सब क्रिया का तन्त्र भी ॥
 मूल सारी सृष्टि का धारण करूँ माता रहूँ ।
 हूँ पितामह, कर्म का शुभ पुण्य फल दाता रहूँ ॥ (16-17)

(16)

जानने के योग्य हूँ ओंकार हूँ पावन सदा ।
 ऋग्वेद भी हूँ यजुः भी और साम का गायन सदा ॥
 परम गति हूँ योगियों की, भरणकर्ता ईश हूँ ।
 शुभ-अशुभ को देखता हूँ शरण हूँ जगदीश हूँ ॥ (17-18)

(17)

सब मुझी में वास करते, सहायता सबकी करूँ ।
 जगत का उत्पत्ति कर्ता नाश भी सबका करूँ ॥
 सृष्टि का हूँ बीज मेरा नाश भी होता नहीं ।
 प्रलय में सब भूत मुझ में, किन्तु मैं खोता नहीं ॥ (18)

(18)

सूर्य हूँ, वर्षा हूँ मैं मृत्यु, सुधा का रूप हूँ।
 सत् असत् भी मैं ही हूँ और सब नरों में भूप हूँ॥
 वेद वर्णित कर्मकर्ता सोम रस पीते हुए।
 देव ऋण से मुक्त होकर योग में जीते हुए॥ (19-20)

(19)

यज्ञ द्वारा पूजते हैं चाहते स्वर्लोक को।
 पुण्य फल अर्जित किये, और छोड़ सारे शोक को॥
 मेरी कृपा से योगीजन सुर लोक को जाते सदा।
 दिव्य दैवी भोग को सुर लोक में पाते सदा॥ (20)

(20)

अवधि पाकर पुण्य की फिर लौटकर आते यहाँ।
 वेद धर्मी काम कर्मी जन्म फिर पाते यहाँ॥
 शुभ कर्म करके फिर यहाँ सुरलोक में जाते रहें।
 क्षीण होता पुण्य तो फिर लौटकर आते रहें॥ (21)

(21)

मुझ में लगाकर चित्त अपना भक्त आराधन करें।
 निष्काम कर्मी प्राप्ति मेरी का सदा साधन करे॥
 उन योगियों के योग को और क्षेम को धारण करूँ।
 सृष्टि के सब दूषणों को मार्ग से वारण करूँ॥ (22)

(22)

श्रद्धा सहित जो पूजते हैं भक्त दूजे देव को।
 वे भी मुझे ही पूजते, स्वीकार करता सेव को॥
 किन्तु उनका पूजना परिपूर्ण है अज्ञान से।
 वे मुझे पाते नहीं हैं, भटकते हैं ध्यान से॥ (23)

(23)

यज्ञ का स्वामी हूँ मैं और भोक्ता भी मैं सदा।
 तत्त्व मेरा यही है हूँ योक्ता भी मैं सदा॥
 इस तत्त्व से अनभिज्ञ ही मेरी गति पाते नहीं।
 जन्म मृत्यु प्राप्त करते मोक्ष को जाते नहीं॥ (24)

(24)

देवता को पूजकर दैवत्व को ही प्राप्त हो।
 पितृगण को पूजते पितृत्व में ही व्याप्त हो॥
 पूजता जो भूतगण, भूतत्व को जाता सदा।
 जो पूजता मुझ ईश को वह मोक्ष को पाता सदा॥ (25)

(25)

फूल पत्ते फल जलादि भक्ति से अर्पण करे।
 शुद्ध मन, निष्काम, वस्तु जो भी कुछ अर्पण करे॥
 ग्रहण करता प्रेम से ही मैं प्रकट साकार हो।
 वह सदा मेरे लिए बस सुधामय आहार हो॥ (26)

(26)

हे धनञ्जय कर्म तेरा, यज्ञ भी आहार भी।
 तपस्या भी और सारे दान का व्यवहार भी॥
 अर्पण करो मेरे लिए बस ध्यान मेरा ही धरो।
 बन्धनों से मुक्त हो और दोष से भी मत डरो॥ (27)

(27)

शुभ अशुभ सब कर्म फल से बन्धनों के कर्म से।
 छूटकर संयुक्त हो सन्यास योगी धर्म से॥
 निष्पाप होकर तू सदा ही प्राप्त भी होगा मुझे।
 सब कर्मजों का दोष भी नहीं व्याप्त तब होगा तुझे॥ (28)

(28)

सब भूत में सम भाव से व्यापक सदा रहते हुए।
 "न किसी से द्वेष है न प्रेम" यह कहते हुए॥
 रात दिन भजते मुझे श्रद्धा सहित जो भक्ति से।
 अन्तःकरण में प्रकट होता भक्ति की ही शक्ति से॥ (29)

(29)

मुझमें लगाकर चित्त अपना जो दुराचारी कहीं।
 भक्ति से भजता मुझे तो वह दुराचारी नहीं॥
 निश्चय किया है उसने बस उद्धार होगा भक्ति से।
 साधु उसको मानता मैं भक्ति की ही शक्ति से॥ (30)

अथ नवमोऽध्यायः

(30)

शीघ्र धर्मात्मा बने वह शान्ति को पाकर यहाँ।
 नष्ट बंध होता नहीं मुझ ईश को गाकर यहाँ॥
 जान लो निश्चय परन्तप तथ्य यह बतला रहा।
 भक्ति के इस तत्व को श्रीकृष्ण ने फिर से कहा॥ (31)

(31)

पाप योनी जीव भी अन्तःकरण से भज मुझे।
 मेरी शरण में आ गये तो यह बताता हूँ तुझे॥
 वैश्य, नारी, शूद्र जन, चाण्डाल कर्मी नर रहे।
 मेरी गति को प्राप्त हो संसार सागर तर रहे॥ (32)

(32)

फिर पुण्य कर्मी ब्राह्मणों राजर्षियों की बात क्या।
 मेरी गति को पायेंगे, आश्चर्य की है बात क्या॥
 इसलिए नश्वर जगत में पार्थ तुम रहते हुए।
 गाते रहो मुझको सदा भव कष्ट सब सहते हुए॥ (33)

(33)

मन लगा मुझमें सदा भक्ति निरन्तर तुम करो।
 नमन भी मुझको करो और अर्चना भी तुम करो॥
 आत्मा मुझमें लगा मेरे परायण हो रहो।
 प्राप्त होगे तुम मुझे ही, सदा मुझमें खो रहो॥
 नवमोऽध्यायः समाप्तः

अथ दशमोऽध्यायः

(1)

फिर सुनो तुम वचन मेरे छोड़ सारे स्वार्थ को ।
मैं बताता हूँ तुझे, गोविन्द बोले पार्थ को ॥
प्रभावी है वचन मेरे गोपनीय अनन्त हैं ।
भक्त मेरा प्रिय सदा है और मन से सन्त है ॥ (1)

(2)

ऋषि, तपस्वी, मरुद्गण पहचानते मुझको नहीं ।
कब हुआ था जन्म मेरा जानते मुझको नहीं ॥
क्योंकि मैं आरम्भ हूँ, सब देवता, संसार का ।
उत्पन्न कर्ता मैं सदा सब सृष्टि के व्यापार का ॥ (2)

(3)

और जो नर जानते हैं जन्म है मेरा नहीं ।
आदि भी मेरा नहीं और अन्त भी मेरा नहीं ॥
लोक का मैं ईश हूँ, वे ज्ञान से भरपूर हैं ।
श्रेष्ठ हैं इस लोक में, सब दूषणों से दूर हैं ॥ (3)

(4)

अर्जुन सुनो यह चेतना, मन, बुद्धि विषयक ज्ञान है ।
इन्द्रियों का नियंत्रण है, सत्य की पहचान है ॥
क्षमा, मन का निग्रह सब सौख्य सारे क्लेश भी ।
उत्पत्ति और अन्त भी, भय अभय सारे द्वेष भी ॥ (4)

(5)

अहिंसा, समता, सभी गुण, तुष्टि, तप और दान भी ।
हैं मुझी से जन्म लेते, मान और अपमान भी ॥
सप्त ऋषि, चौदह मनु हैं शनक आदि चार हैं ।
भाव रखते सब मुझी में, मानसिक उद्गार हैं ॥ (5-6)

(6)

उनकी सभी सन्तान हैं जो हैं अभी संसार में।
मेरी विभूति योग को जो जानते हैं सार में ॥
स्थित सदा मुझ में रहे वे भक्त योगी ध्यान से।
पार्थ संशय रहित सारे मुझे पाते ज्ञान से ॥ (6-7)

(7)

उत्पत्ति कारण हूँ जगत का, सृष्टि के सब कर्म भी।
संचलित मुझसे सदा हैं और सारे धर्म भी ॥
जानकर इस तत्व को श्रद्धा समन्वित हो यहाँ।
सज्ञान भजते हैं निरन्तर भाव अन्वित हो यहाँ ॥ (8)

(8)

चित्त को और प्राण को मुझमें लगाकर जो सदा।
चर्चा परस्पर जो करे मम भक्ति की ही सर्वदा ॥
कीर्तन करते हुए गुणगान नित करते रहें।
सन्तुष्ट होते सर्वथा, फिर मोद में भरते रहें ॥ (9)

(9)

इस भांति मेरी भक्ति में लगते रहे जो ध्यान में।
प्रेम पूर्वक भज रहे लग कर सदा गुणगान में ॥
तत्व ज्ञानी योग मैं देता रहूँ उनको सदा।
उस योग की ही भक्ति से मैं प्राप्त होता सर्वदा ॥ (10)

(10)

अन्तःकरण स्थिर हुआ उन पर अनुग्रह कर सदा।
ज्ञान दीपक ज्योति से अज्ञानतम को हर सदा ॥
ज्ञान की ही ज्योति से फिर जोड़ता पुरुषार्थ से।
प्राप्त होता हूँ उन्हें गोविन्द बोले पार्थ से ॥ (11)

(11)

कौन्तेय बोले हे प्रभो परब्रह्म है, पर धाम हैं।
सनातन हैं, दिव्य हैं, दैवत्व का विश्राम हैं ॥
अजन्मा अव्यक्त हैं सर्वत्र व्यापी हैं सदा।
कह रहे सब ऋषि, तपस्वी, देवऋषि नारद तथा ॥ (12-13)

(12)

असित, देवल व्यास भी, गुणगान सब तेरे लिए।
 आपने जो भी कहा है सत्य सब मेरे लिए॥
 लीलामयी इस रूप को बस जानते कोई नहीं।
 दानवों में देव में पहचानते कोई नहीं॥ (13-14)

(13)

हे नरोत्तम जन्म देते चर अचर संसार को।
 रच रहे तुम तो सदा इस सृष्टि के व्यापार को॥
 दैवत्व के भी देव हो, भूतेश हो, जगदीश हो।
 जानते बस तुम स्वयं को योगियों के ईश हो॥ (15)

(14)

इसलिए सब भूतियाँ जो आपसे सम्बद्ध हैं।
 मुझको बतायेंगे प्रभो जो लोक में आबद्ध हैं॥
 कह सकेंगे आप ही, सामर्थ्य है तेरी प्रभो।
 जान मैं सकता नहीं है प्रार्थना मेरी प्रभो॥ (16)

(15)

परम योगी आप हैं सामर्थ्य क्या मेरी प्रभो।
 किस भाँति जानूँ मैं अकिंचन भूतियाँ तेरी प्रभो॥
 भाव क्या लेकर हृदय चिन्तन करूँ मैं आपका।
 भेद सारा जानकर वन्दन करूँ मैं आपका॥ (17)

(16)

हे जनार्दन भूतियाँ निज योग के विस्तार को।
 फिर कहें विस्तार पूर्वक ज्ञान के सब सार को॥
 सुधा सिंचित वचन सुनकर तृप्ति तो होती नहीं।
 और जागृत हो रही उत्कंठ कम होती नहीं॥ (18)

(17)

भूतियाँ मेरी सुनो अत्यन्त हैं विस्तार में।
 प्रमुखता से दिव्य को ही मैं कहूँगा सार में॥
 कुन्ती तनय को देखकर यूँ भाव में विह्वल महा।
 भूति विषयक ज्ञान को श्रीकृष्ण ने फिर यूँ कहा॥ (19)

(18)

आत्मा में प्राणियों के हृदय में रहते हुए।
 आदि भी हूँ, मध्य भी, और अन्त को गहते हुए॥
 बारह सुतों में अदिति का विष्णु मुझको जान लो।
 ज्योतियों में सूर्य हूँ संशय रहित पहचान लो ॥ (20-21)

(19)

तेज हूँ मैं उन सभी का पवन जो उनचास है।
 चन्द्रमा नक्षत्र में, सब शक्ति मेरे पास है ॥
 साम हूँ मैं वेद में और इन्द्र हूँ दैवत्व में।
 इन्द्रियों में मनतथा हूँ चेतना सब सत्व में ॥ (21-22)

(20)

रुद्र एकादश सभी में सदाशिव हूँ सर्वदा।
 यक्ष राक्षस किन्नरों में धनपति मैं हूँ सदा ॥
 अष्ट वसु में अग्नि हूँ हे पार्थ कहता हूँ तुझे।
 सब पर्वतों में श्रेष्ठ हूँ तुम मेरु ही समझो मुझे ॥ (23)

(21)

पुरोहित में देवगुरु के नाम से ही जान लो।
 सेनानियों में स्कन्द के ही रूप में पहचान लो ॥
 जल सहित मैं श्रेष्ठ, सागर ही मेरी पहचान है।
 कह रहा हूँ मैं तुझे ममभूतियों का ज्ञान है ॥ (24)

(22)

महाऋषियों में भृगु हूँ वाणी में ओंकार हूँ।
 जप यज्ञ हूँ सब यज्ञ में और भक्ति में साकार हूँ ॥
 स्थाणुओं में हिमगिरि मैं अचल हूँ रखता मही।
 अन्त मेरी भूतियों का हो नहीं सकता कहीं ॥ (25)

(23)

पादपों के विपुल कुल पीपल मुझे तुम जान लो।
 देवऋषियों में सदा नारद मुझे पहचान लो ॥
 देव गायक जाति में मैं चित्ररथ हूँ आर्य हूँ।
 सिद्ध मुनियों में कपिल हूँ सिद्धि में आचार्य हूँ ॥ (26)

(24)

उच्चैः श्रवा में अश्व हूँ गज श्रेष्ठ ऐरावत कहो ।
 अमृत सहित उत्पन्न हैं सागर समन्थन में अहो ॥
 और समझो तुम मुझे मैं मनुष्यों में भूप हूँ ।
 पार्थ तुम जानो मुझे मैं प्रकृति का रूप हूँ ॥ (27)

(25)

वज्र हूँ सब शस्त्र में हूँ, कामधेनु गाय में ।
 उत्पत्ति कारणभार हूँ सब देवता समुदाय में ॥
 सर्प में हूँ वासुकि और नाग में मैं शेष हूँ ।
 जलचरों में वरुण का ही रूप में सविशेष हूँ ॥ (28-29)

(26)

पितृगण में अर्यमा और राज में यमराज हूँ ।
 प्रह्लाद हूँ सवदैत्य में और खगों में खगराज हूँ ॥
 क्षण घड़ी दिन रात का मैं समय हूँ यह जान लो ।
 चतुष्पादों में सदा ही सिंह मुझको मान लो ॥ (29-30)

(27)

पवित्रों में पवन हूँ और शस्त्रधारी राम हूँ ।
 मछलियों में मगर हूँ गंगा मैं ही अभिराम हूँ ॥
 सृष्टि का मैं आदि भी हूँ मध्य भी और अन्त भी ।
 आध्यात्म विद्या श्रेष्ठ हूँ और वाद का हूँ अन्त भी ॥ (31-32)

(28)

वर्ण में अकार हूँ मैं द्वन्द्व सर्व समास में ।
 अक्षयी मैं काल हूँ इस सृष्टि के इतिहास में ॥
 धाता मैं ही इस सृष्टि का जो भरण-पोषण कर रहा ।
 सब ओर अपना मुख किये इस सृष्टि को मैं भर रहा ॥ (33)

(29)

सर्वहारी मृत्यु हूँ, रचता मैं ही संसार को ।
 जन्म देता हरण करता सृष्टि के व्यापार को ॥
 नारियों में कीर्ति, मेघा, श्री धृति पहचान लो ।
 स्मृति क्षमा और वाक् मैं संशय रहित यह जान लो ॥ (34)

(30)

छन्द में गायत्री मैं हूँ गायकी में साम हूँ।
 मास में मृशशिर कहो ऋतुराज मैं अभिराम हूँ॥
 व्यवसायियों का अटल निश्चय सफलता हूँ कर्म की।
 तेजस्वियों का तेज हूँ और धुरी हूँ सब धर्म की॥ (35-36)

(31)

सात्विक मैं भाव हूँ सब श्रेष्ठ पुरुषों का सदा।
 छद्म का सरताज जूआ जान लो मुझको सदा॥
 वृष्णिओं में कृष्ण हूँ और पाण्डवों में पार्थ हूँ।
 मित्र मेरा है सदा तू मैं तेरा पुरुषार्थ हूँ॥ (36-37)

(32)

महर्षियों में व्यास ही मुझको सदा जानो सखे।
 काव्यकर्ता कविजनों में शुक्र कवि मानो सखे।
 दमन में मैं दण्ड हूँ और जीतने का मान हूँ।
 गोप्य में हूँ मौन ही और ज्ञानियों का ज्ञान हूँ॥ (37-38)

(33)

अर्जुन सुनो सब प्राणियों का बीज कहलाता सदा।
 मेरे बिना यह सब चराचर रह नहीं पाता सदा॥
 इस भांति मेरी भूतियों का कम नहीं विस्तार है।
 संक्षेप में मैंने कहा सब भूतियों का सार है॥ (39-40)

(34)

जो वस्तु भी ऐश्वर्य कान्ति शक्ति से सम्पन्न है।
 जान उनको तू सदा मम तेज से उत्पन्न है॥
 जानने से अधिक का भी क्या प्रयोजन है तुझे।
 योग शक्ति अंश से ही व्यास तुम समझो मुझे॥ (41-42)

दशमोऽध्यायः समाप्तः

अथ एकोदेशोऽध्यायः

(1)

कृपा कर जो आपने आध्यात्म विषयक ज्ञान को।
जो गोपनीय विशेष है उपदिष्ट मुझ अनजान को॥
जो कहा है आपने, उस ज्ञान की ही शक्ति से।
अज्ञान मेरा हर लिया है, पार्थ बोले भक्ति से॥ (1)

(2)

सृष्टि की उत्पत्ति को और प्रलय के विस्तार को।
मैंने सुना है आपसे सब सृष्टि के व्यापार को॥
अव्ययी अव्यक्त हैं और अनश्वर जगदीश है।
महिमा सुनी है आपकी सर्वत्र व्यापी ईश है॥ (2)

(3)

आप जैसा कह रहे हैं सत्य ऐसा है प्रभो।
देखना मैं चाहता हूँ रूप जैसा है प्रभो॥
ऐश्वर्य शक्ति शौर्य बल और तेज युत भी ज्ञान से।
प्रत्यक्ष दिखलाएँ प्रभो वह रूप अपना ध्यान से॥ (3)

(4)

मानते हैं आप यदि मैं देख सकता आपको।
तो मुझे दिखलाइये सब दूर कर सन्ताप को॥
उत्कण्ठ कुन्ती पुत्र को यूँ देख भक्तियुतमहा।
सान्त्वना देते हुए गोविन्द ने फिर यूँ कहा॥ (4)

(5)

अब अलौकिक रूप मेरा पार्थ देखो ध्यान से।
शत सहस्रो रूप मेरे जान लो निज ज्ञान से॥
वर्णनाना आकृति भी दिव्य भूत्रिमय महा।
मैं दिखाता हूँ तुझे श्रीकृष्ण ने फिर यूँ कहा॥ (5)

(6)

अदिति बारह सुतों को अष्ट वसुओं मरूद्गण को ।
 अश्विनी को और ग्यारह देख लो सब रूद्रगण को ॥
 आश्चर्यमय है रूप मेरा जो कभी देखा नहीं ।
 दिव्य चक्षु के बिना जो दृष्टिगत होता नहीं ॥ (6)

(7)

स्थिर मुझी में देख सारे चर अचर संसार को ।
 और भी जो देखना हो सृष्टि के व्यापार को ॥
 किन्तु भौतिक लोचनों से देखना संभव नहीं ।
 दिव्य चक्षु दे रहा हूँ रूप तुम देखो यही ॥ (7-8)

(8)

कहते हुए श्रीकृष्ण ने फिर ऐश्वरी निज रूप को ।
 संजय बताने लग गया धृतराष्ट्र अन्धे भूप को ॥
 पार्थ को दर्शित किया फिर दिव्य शक्ति युक्त हो ।
 उर्ध्वमुख हो पार्थ ने फिर भक्ति में संयुक्त हो ॥ (8-9)

(9)

देखा अलौकिक रूप जो नाना मुखों से युक्त था ।
 लोचन हजारों दीप्त थे और दिव्य अम्बर युक्त था ।
 दिव्याभरण भासित महा था दिव्य शस्त्रों को लिए ।
 दिव्य गन्धों से सुवासित दिव्य स्रक् धारण किये ॥ (10-11)

(10)

आश्चर्यकारी सब दिशा में मुख किये चहुँ ओर था ।
 निस्सीम था और वृहद् था जिसका न कोई छोर था ॥
 गगन में युगपत् सहस्त्रों सूर्य दीपित हों कभी ।
 ऐसा अलौकिक तेज था, जिसमें तिरोहित थे सभी ॥ (11-12)

(11)

श्रीकृष्ण के उस वृहत् तनु में सृष्टि के व्यापार को ।
 पार्थ ने देखा उपस्थित पृथक् सब संसार को ॥
 विस्मय चकित हो रोम पुलकित भक्ति अन्वित हो महा ।
 विनय से अवनत हुए फिर पार्थ ने ऐसा कहा ॥ (13-14)

(12)

देखता सब देवमय मैं आपकी इस देह को ।
 हे देव सारे भूतगण को दूर कर सन्देह को ॥
 कमल आसन ब्रह्म को भी देखता हूँ आपमें ।
 सब ऋषि और सर्पगण भी निहित तुम निष्पाप में ॥ (15)

(13)

नाना मुखों और बाहुओं से युक्त तेरा रूप है ।
 लोचनों से युक्त नाना अति अनन्त स्वरूप है ॥
 आपका न आदि है न मध्य है, न अन्त है ।
 आपकी सब भूतियाँ तो व्याप्त और अनन्त हैं ॥ (16)

(14)

हे प्रभो मैं आप को यूँ मुकुट मणि शोभित महा ।
 गदाधारी, चक्रधारी रूप में लोभित यहां ॥
 तेज दीपित हर तरफ से अनल समभासित हुए ।
 सूर्य से भी अधिक ज्योति नेत्रममत्रासित हुए ॥ (17)

(15)

जानने के योग्य हो, परमात्मा पर ब्रह्म हो ।
 विश्वास के आश्रम सदा ही, धर्म के तुम स्तम्भ हो ॥
 अव्यय अनादि ईश हो, तुम नाश से भी दूर हो ।
 मैं मानता हूँ हे प्रभो तुम सृष्टि में भरपूर हो ॥ (18)

(16)

देखता हूँ हे प्रभो न आदि तेरा अन्त है ।
 मध्य भी दिखता नहीं विस्तार अति अनन्त है ॥
 शशि सूर्य तेरे नेत्र हैं तुम शौर्य शाली हो महा ।
 दीपित अनल का मुख लिये, मैं देख सकता हूँ यहाँ ॥ (19)

(17)

निज तेज से इस विश्व को तापित महा करते हुए ।
 सुरलोक और भू लोक के तुम मध्य को भरते हुए ॥
 व्याप्त है यह गगन तुमसे सब दिशायें युक्त हैं ।
 अद्भुत भयंकर रूप लख त्रैलोक्य भी सन्तप्त है ॥ (19-20)

(18)

यह देवता समुदाय भी तुम में प्रविष्टि पा रहा ।
 भयभीत हो कुछ हाथ जोड़े गान तेरा गा रहा ॥
 महर्षि समुदाय भी कल्याण को कहते हुए ।
 स्तोत्र उत्तम से तुम्हें सब प्रार्थना गहते हुए ॥ (21)

(19)

विस्मित हुए सब देखते, आदित्य बारह साध्य गण ।
 अष्ट वसु, दो अश्विनी उनचास सारे मरुद्गण ॥
 रुद्र ग्यारह विश्व देवा, पितर सब मिल कर प्रभो ।
 सिद्ध गण गन्धर्व सारे यक्ष रजनीचर प्रभो ॥ (22)

(20)

बहुमुखी बहु नेत्र भोगी, बहुत बाहु बहु उदर ।
 बहुचरण से युक्त तेरा रूप हम देखे जिधर ॥
 बहुत दाढ़ों से भयंकर विश्व मय इस रूप को ।
 व्यथित सारे लोग में भी विषम देख स्वरूप को ॥ (23)

(21)

गगनचुम्बी प्रज्वलित सा वर्ण नानायुत किये ।
 आयतानन हो ज्वलित सी नेत्र की ज्योति लिए ॥
 देखकर यह रूप तेरा व्यथित मेरा मन प्रभो ।
 शान्ति भी पाता नहीं न धैर्य मेरा तन प्रभो ॥ (24)

(22)

दन्त दाढ़ों से भयंकर प्रलय की ज्यों आग हो ।
 देख तेरे आननों को काल का संभाग हो ॥
 भूलता हूँ मैं दिशायें और सुख पाता नहीं ।
 कृपा करिये हे प्रभो अब आप सम त्राता नहीं ॥ (25)

(23)

भूपगण के साथ ही धृतराष्ट्र के सारे तनय ।
 घुस रहे तेरे मुखों में हो रहे सारे विलय ॥
 वीर योद्धा सकल मेरे, भीष्म गुरु और कर्ण भी ।
 आपके विकराल मुख में हो रहे सब चूर्ण भी ॥ (26)

(24)

हो तिरोहित आपमें सब वेग से दौड़े हुए।
 नष्ट होते जा रहे अस्तित्व निज छोड़े हुए॥
 लग्न दाँतों में कई निज अंग खोते जा रहे।
 देखता हूँ मैं उन्हें सब लुप्त होते जा रहे ॥ (27)

(25)

प्रलय वेगी दौड़कर जिस भांति सरिता जल सदा।
 अस्तित्व अपना छोड़ता है जलनिधि में मिल सदा॥
 उस भांति ये नरवीर भी अति वेग से यूँ भागते।
 घुस रहे हैं ज्वलित मुख में प्राण अपने त्यागते ॥ (28)

(26)

जिस भांति मोहित हो पतंगा नष्ट होने के लिए।
 ज्वलित अग्नि सात हो अस्तित्व खोने के लिए॥
 उस भांति ये नरवीर सारे वेग से यूँ दौड़ते।
 घुस रहे हैं ज्वलित मुख में प्राण अपने छोड़ते ॥ (29)

(27)

ज्वलित आनन आप तो बस ग्रस रहे सब लोक को।
 चाहते चहुँ ओर से ही, प्रकट कर आलोक को॥
 तेज से परिपूर्ण सारे जगत को भासित किये।
 आपका यह तेज विष्णो, लोक को त्रासित किये ॥ (30)

(28)

उग्र रूपा कौन है यह तो मुझे बतलाइये।
 नमन करता हूँ प्रभो सब खोलकर समझाइये॥
 चाहता हूँ जानना हे आदिमानव आपको।
 कार्य से अनभिज्ञ हूँ अब मेटिये सन्ताप को ॥ (31)

(29)

ईश बोले हे धनञ्जय मैं प्रकट महाकाल हूँ।
 नाश करने लोक का ही मैं प्रवृत्त तत्काल हूँ॥
 युद्ध तू करता नहीं तौ भी न रहने पायेंगे।
 प्रतिपक्ष के सब वीर तो बस नाश को ही जायेंगे ॥ (32)

(30)

इसलिए तू उठ धनञ्जय विमल यश को प्राप्त हो।
 जीतकर सब शत्रुओं को राज्य को सम्प्राप्त हो॥
 पूर्व में ही मर चुके हैं मेरे द्वारा ये सभी।
 निमित्त बन जा तू धनञ्जय नष्ट प्राय ये सभी॥ (33)

(31)

भीष्म गुरू और कर्ण भी अन्यान्य सारे और जो।
 जयद्रथादि वीर सारे दिख रहे चहुँ ओर जो॥
 मृत्यु को ही प्राप्त है हे पार्थ तज सन्ताप को।
 जीत निश्चित है तुम्हारी तुम संभालो आपको॥ (34)

(32)

सुनकर वचन श्रीकृष्ण के निज हाथ बांधे कांपते।
 पार्थ ने फिर यूँ कहा भयभीत होकर तापते॥
 क्रमवार सारे तथ्य को संजय बताता भूप को।
 सिर झुकाकर पार्थ ने फिर कर प्रणाम स्वरूप को॥ (35)

(33)

उचित है हे देव तेरे नाम कीर्तन से सभी।
 दर्श पाकर विश्व सारा हर्ष अनुरञ्जित अभी॥
 भयभीत होकर सब निशाचर दिशाओं में भागते।
 नमन करते सिद्धगण सन्ताप अपना त्यागते॥ (36)

(34)

हे महात्मन्, आदिकर्ता आपको कैसे नहीं।
 नमन ब्रह्मा भी करे और जगत भी ऐसे नहीं॥
 अनन्त हैं देवेश है सब विश्व में जो व्याप्त है।
 सत् असत् से दूर होकर अव्ययी है आस है॥ (36)

(35)

सृष्टि के तुम आदि हो शाश्वत तुम्हीं त्राता प्रभो।
 शरण हो इस विश्व के और ज्ञेय हो ज्ञाता प्रभो॥
 अक्षर सदा अव्यक्त हो, योगी परम, पर धाम हो।
 व्याप्त तुम सर्वत्र हो अन् अन्त और अनाम हो॥ (38)

(36)

वायु हो, यमराज हो तुम चन्द्र अग्नि वरुण हो ।
 प्रजापति के जनक हो, अज हो, तुम्हीं तो अरुण हो ॥
 तुमको हजारों नमन है, नमन फिर करता प्रभो ।
 ईश तेरे चरण तल को हृदय में धरता प्रभो ॥ (39)

(37)

सर्वशक्तिमन प्रभो आगे नमन करता तुझे ।
 पीछे नमन सब ओर से है लोक के हरता तुझे ॥
 विक्रमी अत्यन्त हो, तुम व्याप्त हो सब सृष्टि में ।
 इसलिए सर्वात्मा हो आप सबकी दृष्टि में ॥ (40)

(38)

आपके इस महत्व को नहीं जानकर अज्ञान से ।
 प्रेम से ही या प्रभादी बन कहा जो मान से ॥
 हे कृष्ण, हे यादव, सखे, बस मित्र ही माना तुम्हें ।
 देवेश हो पर ब्रह्म हो नहीं सत्य से जाना तुम्हें ॥ (41)

(39)

साथियों में या अकेले या कभी परिहास में ।
 शयन, आसन, भोज में, या गेह और प्रवास में ॥
 तिरस्कृत मैंने किया है आपको जो भी कहीं ।
 क्षमा करने योग्य है था ज्ञात मुझको भी नहीं ॥ (42)

(40)

चर अचर इस लोक के बस जन्मदाता हो तुम्हीं ।
 गुरु हो और पूज्य हो बस लोक त्राता हो तुम्हीं ॥
 अधिक की तो बात क्या समतुल्य भी दूजा नहीं ।
 अनुपम प्रभावी ईश तेरी भक्ति सम पूजा नहीं ॥ (43)

(41)

इसलिए साष्टांग तुमको नमन मैं करते हुए ।
 स्तुति विनय से आपके ही चरण सिर धरते हुए ॥
 पिता सुतका, सखा सखका, प्रेमी जैसे प्रीत का ।
 अपराध वैसे सहन करिये, मुझ अजाने मीत का ॥ (44)

(42)

अदृष्ट दर्शन आपका कर मुदित हूँ इस रीति से।
किन्तु मन व्याकुल हुआ मेरा अजानी भीति से॥
इसलिए देवेश मुझको विष्णु रूप दिखाइये।
कृपा करिये हे प्रभो मम भीति दूर भगाइये ॥ (45)

(43)

देखना मैं चाहता हूँ मुकुट मणि शोभित हुए।
गदाधारी चक्रधारी रूप में लोभित हुए॥
इसलिए हे विश्वरूपा चतुर्भुज हो जाइये।
सहस्र बाहो आपका प्रियरूप अब दिखलाइये ॥ (46)

(44)

श्रीकृष्ण बोले पार्थ सुन तेजोमयी यह रूप है।
आदि है ब्रह्माण्ड का मेरा विशद स्वरूप है॥
आज तक दर्शित नहीं तेरे अलावा अन्य को।
प्रसन्न हो मैंने दिखाया योग शक्ति जन्य को ॥ (47)

(45)

वेद के अध्ययन से न यज्ञ से न दान से।
क्रिया से भी, अति भीषण तपस्या के ध्यान से॥
तेरे अलावा पार्थ सुन अब देख भी सकता नहीं।
अन्य कोई है नहीं जो देख सकता हो कहीं ॥ (48)

(46)

यह भयंकर रूप लख व्याकुल मना हो किसलिए।
त्याग दो इसको धनञ्जय, भय रहित हो इसलिए॥
प्रीतमन निर्भीक हो तू देख विष्णु रूप को।
मुदित मन संजय बताता जा रहा था भूप को ॥ (49)

(47)

“तथास्तु” कहते हुए श्रीकृष्ण ने निज रूप को।
तत्काल ही दर्शित किया निज सौम्य देव स्वरूप को॥
भयभीत अर्जुन को वहाँ फिर सान्त्वना देते हुए।
चतुर्भुज हो विष्णु के ही रूप को लेते हुए ॥ (50)

(78)

श्रीमद्भगवद् गीता

(48)

सौम्य मानुष हे जनार्दन रूप लखकर आपका ।
 शान्त मेरा मन हुआ है भय गया सन्ताप का ॥
 कृष्ण बोले पार्थ सुन जो रूप देखा है अभी ।
 दैव दुर्लभ है सदा ही चाहते हैं जो सभी ॥ (51-52)

(49)

तपस्या से यज्ञ से न वेद से न दान से ।
 रूप देखा जा सके यह योग से न ध्यान से ॥
 भक्ति से ही बाध्य हो मैं दर्श देता हूँ सदा ।
 प्राप्त भी होता उसे अज्ञान हर लेता सदा ॥ (53-54)

(50)

पार्थ मेरा भक्त जो मेरे लिए सब कर्म ही ।
 मुझ परायण हो करे सम्पूर्ण भौतिक धर्म ही ॥
 आसक्ति वर्जित, प्राणियों में वैर जो करता नहीं ।
 प्राप्त मुझको हो सदा इस लोक से डरता नहीं ॥ (55)

एकोदशोऽध्यायः समाप्तः

अथ द्वादशोऽध्यायः

(1)

भक्त तेरे हैं प्रभो, जो आपने मुझसे कहा।
सगुण तेरा रूप भजते भक्ति युत होकर यहाँ॥
योगीजन पर ब्रह्म निर्गुण निराकारी ईश को।
अव्यक्त अविनाशी सदा देवेश को जगदीश को॥ (1)

(2)

उपासक दोनों प्रभो फिर श्रेष्ठ इनमें कौन है?
योग वेत्ता हे प्रभो, यह कह धनञ्जय मौन है॥
श्रीकृष्ण ने फिर यूँ कहा जो भक्त मुझमें रत रहे।
श्रद्धा सहित भजता मुझे मम ध्यान में सन्तत रहे॥ (2)

(3)

सगुण भक्ति में लगे साकार को भजते यहाँ।
मेरे मत में श्रेष्ठ है संसार को तजते यहाँ॥
किन्तु जो निज इन्द्रियों को वश्य करके सर्वदा।
अव्यक्त अविनाशी मुझी को ध्यान में धर के सदा॥ (2-3)

(4)

सर्वव्यापी अचल निर्गुण निराकारी ईश को।
अनन्य मन से भेज रहे हैं जो मुझी जगदीश को॥
समबुद्धि से सब प्राणियों का हित सदा करते हुए।
प्राप्त होते हैं मुझी को योग में चरते हुए॥ (3-4)

(5)

किन्तु उनकी साधना में श्रम अधिक होता सदा।
अव्यक्त गति दुर्लभ सदा ही क्लेश को ढोता सदा॥
देहधारी प्राणियों से यह गति दुस्साध्य है।
प्राप्त तो होता मुझे ही किन्तु जग से बाध्य है॥ (5)

(6)

किन्तु जो सब कर्म अपने मुझी में अर्पण करे।
 मुझ परायण हो रहे साकार का अर्चन करे॥
 अत्यन्त श्रद्धा सहित मेरी भक्ति में ही रत रहे।
 मुझ ईश को भजता रहे इस योग में सन्तत रहे ॥ (6)

(7)

अर्जुन सुनो उस भक्त का मैं ध्यानहूँ धरता सदा।
 शीघ्र ही भव उदधि से उद्धार हूँ करता सदा॥
 इसलिए हे पार्थ मुझ में बुद्धिमान अर्पण करो।
 मुझ परायण हो सदा तुम स्वच्छ मन दर्पण करो ॥ (7-8)

(8)

वास भी मुझ में करोगे छोड़ सब सन्देह को।
 निश्चिन्त होकर पार्थ तू सब कर्म अपनी देह को॥
 मुझमें लगादे किन्तु यदि ऐसा नहीं जो कर सको।
 अभ्यास कर तू सर्वदा जो ध्यान मुझ में धर सको ॥ (9)

(9)

अभ्यास यदि सम्भव नहीं मेरे लिए सब कर्म ही।
 मेरे लिए मनबुद्धि ही मेरे लिए सब धर्म ही॥
 इस भांति तू करता हुआ भी, प्राप्त मुझको कर सको।
 सब कर्म मुझ पर छोड़कर तुम ध्यान मेरा धर सको ॥ (10)

(10)

यह भी न तुमसे हो सके मन बुद्धि ही को वश किये।
 कर्म तुम सारे करो इन्द्रिय निग्रह को लिए॥
 किन्तु फल का त्याग कर दो फल मुझी पर छोड़ दो।
 आसक्तियों से रहित हो निजभक्ति मुझमें जोड़ दो ॥ (11)

(11)

मर्म को जाने बिना अभ्यास का क्या अर्थ है।
 श्रेष्ठ इससे ज्ञान ही यह ज्ञान की सामर्थ्य है॥
 ज्ञान से भी श्रेष्ठ है फिर ध्यान मुझ परमेश का।
 त्याग इससे श्रेष्ठ है सब शान्ति दाता क्लेश का ॥ (12)

अथ द्वादशोऽध्यायः

(12)

हे पार्थ जो सब प्राणियों में द्वेष अपनाता नहीं।
 निस्वार्थ स्नेही हो दयालु मोह को जाता नहीं॥
 अहं से भी दूर हो सब सुख दुखों में सम रहे।
 सन्तुष्ट हो सब भांति ही और योग से भी नम रहे॥ (13)

(13)

जितेन्द्रिय दृढ़ निश्चयी और क्षमा भावी हो सदा।
 मन बुद्धि मुझमें कर समर्पित भक्ति भावी हो सदा॥
 इस भांति भजता जो मुझे मम भक्त जो रहता कहीं।
 वह मुझे है प्रिय सदा ही साथ मैं रहता वहीं॥ (13-14)

(14)

लोक से बाधित नहीं पीड़ा नहीं दे लोक को।
 हर्ष ईर्ष्या भय सभी से दूर छोड़े शोक को॥
 इस भांति से रहता हुआ मम भक्ति में संलग्न है।
 प्रिय भक्त है मेरा सदा मेरे हृदय में मग्न है॥ (15)

(15)

इच्छा रहित पावन सदा जो दक्ष है सब कर्म में।
 पक्षपाती जो नहीं निर्लिप्त सारे धर्म में॥
 दुःख से पीड़ित नहीं सब कर्मफल को त्यागता।
 वह मेरा प्रिय भक्त है मेरे हृदय में जागता॥ (16)

(16)

सुख में कभी हर्षित नहीं और द्वेष भी करता नहीं।
 इच्छा रहित सब कर्म में और क्लेश से डरता नहीं॥
 शुभ अशुभ सब कर्मजों के फलों से जो दूर है।
 वह मुझे प्रिय है सदा ही भक्ति से भरपूर है॥ (17)

(17)

जो रिपु में मित्र में समदृष्टि है रखता सदा।
 मान और अपमान का रस एकसा चखता सदा॥
 शीत आतप दुःख सुखों में एक सा रहते हुए।
 आसक्तियों से दूर रह सब कर्मफल गहते हुए॥ (18)

(18)

निन्दा स्तुति में सम रहे सन्तोष को पाता रहे ।
 ममता रहित निजवास में और मौन अपनाता रहे ॥
 स्थिर मति हो सर्वदा मम भक्ति में जो रत रहे ।
 वह मुझे प्रिय है सदा मेरे हृदय सन्तत रहे ॥ (19)

(19)

किन्तु जो श्रद्धा सहित उपरोक्त पथ चरते हुए ।
 अमृतमयी इस धर्म को निज हृदय में धरते हुए ॥
 निष्काम कर्मी, मत्परायण भक्ति में संलग्न है ।
 वे मेरे प्रिय भक्त हैं, मेरे हृदय में मग्न हैं ॥ (20)

द्वादशोऽध्यायः समाप्तः

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

(1)

जिस भांति जैसे बीज को हम क्षेत्र में बोते रहे ।
तथा ही फल प्राप्त हो यह ज्ञान क्यों खोते रहे ॥
उस भांति ही यह देह भी निजकर्म फल पाता सदा ।
इसलिए हे पार्थ यह तन क्षेत्र कहलाता सदा ॥ (1)

(2)

जो जानता इस तत्त्व को क्षेत्र कहलाता सदा ।
क्षेत्र को क्षेत्रज्ञ को बस ज्ञानी ही गाता सदा ॥
अर्जुन सुनो सब क्षेत्र में क्षेत्रज्ञ मुझको जान लो ।
प्रकृति का, पुरुष का, यह ज्ञान तुम पहचान लो ॥ (2)

(3)

क्षेत्रज्ञ जो है और जैसा तुम सुनो विस्तार में ।
विकारों से युक्त है कारण सुनो तुम सार में ॥
क्षेत्रज्ञ के भी क्षेत्र को तुमको बताता हूँ यहां ।
'शक्ति उसकी क्या, यही संक्षिप्त समझाता यहाँ ॥ (3)

(4)

वेद मंत्रों में कहा है ऋषि जन गाते रहे ।
क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का यह मर्म समझाते रहे ॥
अति सुनिश्चित युक्ति सम्मत ब्रह्म सूत्री पद यही ।
गा रहे हैं पृथक् से बस ज्ञान का यह मत सही ॥ (4)

(5)

गगन, पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, अहं और बुद्धि भी ।
दश इन्द्रियाँ ओर एक मन फिर प्रकृति की शुद्धि भी ॥
इन्द्रियों के विषय पांचों, रूप, रस और गन्ध भी ।
शब्द भी और स्पर्श भी और साम सारे द्वन्द्व भी ॥ (5)

(6)

द्वेष, इच्छा, सुख दुखों का, देह का, सब ज्ञान भी ।
 चेतना और धैर्य भी, सब विकृति का मान भी ॥
 पाखण्ड का होना नहीं और श्रेष्ठता अभिमान भी ।
 अहिंसा और क्षमा, वाणी, निष्कपट मन ध्यान भी ॥ (6-7)

(7)

श्रद्धा सहित गुरु भक्ति भी, अन्तःकरण भी शुद्ध हो ।
 स्थिर मति हो सर्वदा, सब काल आत्म प्रबुद्ध हो ॥
 इन्द्रियों को वश करे आसक्तियों से दूर हो ।
 वर्जित रहे निज अहं से और ज्ञान में भरपूर हो ॥ (7-8)

(8)

जन्म मृत्यु और जरा का, दूषणों का मनन हो ।
 रोग के भी कारणों का, अहं का भी हनन हो ॥
 पुत्र, पत्नी, गृह, विभव-आसक्ति का होना नहीं ।
 प्रियाप्रिय की प्राप्ति में समचित्तता खोना नहीं ॥ (8-9)

(9)

एक मन से योग युत शुचि भक्ति मेरी में लगे ।
 एकान्त सेवी, वास पावन, शुद्ध भावों में पगे ॥
 लोक के विषयोजनों के संग से वर्जित रहे ।
 निरन्तर निज आत्मा के ज्ञान से अर्जित रहे ॥ (10)

(10)

तत्त्वज्ञानी अर्थ हित मुझ ईश का ही ध्यान है ।
 ज्ञान मेरे मत यही है शेष सब अज्ञान है ॥
 मैं कहूँ इस ज्ञान को जो जानने के योग्य है ।
 जानकर जिसको पुरुष परमात्मा को भोग्य है ॥ (11-12)

(11)

वह अनादि ब्रह्म तो सत् भी असत् भी है नहीं ।
 इस बात को सब काल में सद्ग्रन्थ वेदों ने कही ॥
 सब ओर जिसके हाथ हैं और चरण भी सब ओर हैं ।
 नेत्र, मस्तक, कान भी आनन किये चहुँ ओर हैं ॥ (12-13)

(12)

प्रत्येक कण में व्याप्त है और लोक जिसमें लीन है ।
 इन्द्रिय विषय को जानता है, इन्द्रियों से हीन है ॥
 आसक्तियों से रहित फिर भी भरण-पोषण कर रहा ।
 निर्गुण निराकारी है किन्तु सब गुणों में चर रहा ॥ (13-14)

(13)

चर अचर में प्राप्त है और चर अचर भी है वही ।
 सूक्ष्म है, अज्ञात है और पास भी रहता वही ॥
 आत्मा सब प्राणियों की इसलिए ही पास है ।
 श्रद्धा रहित अज्ञानियों से दूर उसका वास है ॥ (15)

(14)

परमात्मा अविभक्त है सर्वत्र व्यापी एक है ।
 सब प्राणियों में पृथक्ता से बहुत और अनेक है ॥
 रचता, मिटाता सृष्टि को पालन वही करता सदा ।
 ब्रह्मा वही शंकर वही, विष्णु वही है सर्वदा ॥ (16)

(15)

सर्वों पर सब ज्योतियों में और मायातीत है ।
 जानने के योग्य है सबके हृदय में मीत है ॥
 क्षेत्र का यह ज्ञान है जो जानने के योग्य है ।
 भक्त मेरे जान कर मम प्राप्ति को ही भोग्य है ॥ (17-18)

(16)

अर्जुन प्रकृति पुरुष दोनों अनादि ही जान लो ।
 सब विकारों, तीन गुण का जन्म इससे मान लो ॥
 कार्य की और करण की उत्पत्ति इससे ही सदा ।
 दुःख सुखों को भोगता जीवात्मा ही सर्वदा ॥ (19-20)

(17)

आकाश, पृथ्वी, जल, पवन और अनल भी आते सदा ।
 तत्त्व ये पांचों मिले महाभूत कहलाते सदा ॥
 शब्द, स्पर्शी, रूप, रसको, गन्ध को भी मान लो ।
 मिलकर सभी ये कार्य हैं इस तत्त्व को पहचान लो ॥ (20)

(18)

कर्मेन्द्रियाँ भी पांच हैं ज्ञानेन्द्रियाँ भी पंच हैं ।
 बुद्धि मन और अहं मिलकर यह करण का मंच है ॥
 प्रकृति ही जन्म देती इन सभी को सर्वदा ।
 सुख दुखों का भोक्ता जीवात्मा ही है सदा ॥ (20)

(19)

ईश माया वश हुआ नर भोगता सब भोग को ।
 तीन गुण से बंध यहां वह प्राप्त होता सोग को ॥
 देवयोनी प्राप्त करता सत्त्वगुण अपना सदा ।
 मानुषीरज और तम से नीच योनी पा सदा ॥ (21)

(20)

इस देह में जो आत्मा परमात्मा ही है सदा ।
 उपदेश भी देता वही है अनुमति भी सर्वदा ॥
 भर्ता वही है भोक्ता भी और है परमेश भी ।
 परमात्मा कहते उसे सब लोग देव महेश भी ॥ (22)

(21)

हे पार्थ जो इस भांति से माया पुरुष को जानता ।
 कर्म गुण से युक्त उसके तत्व को पहचानता ॥
 लोक में सब कर्म करके जन्म फिर पाता नहीं ।
 मुक्ति को पाता सदा फिर लौटकर आता नहीं ॥ (23)

(22)

कुछ पुरुष मुझ ईश को निज सूक्ष्म बुद्धि ध्यान से ।
 और कुछ तो प्राप्त करते योग के ही ज्ञान से ॥
 कुछ प्राप्त करते हैं मुझे निष्काम कर्मी योग से ।
 आसक्तियों से रहित कुछ नर लोक के ही भोग से ॥ (24)

(23)

मन्द बुद्धि पुरुष कुछ तो जानते ऐसा नहीं ।
 तत्व ज्ञानी पुरुष के संसर्ग में जैसा नहीं ॥
 मत्परायण हो यहां आराधना करते रहें ।
 श्रवण के ही ध्यान से संसार से तरते रहें ॥ (25)

(24)

चेतन अचेतन जो सभी हैं दृष्टिगत संसार में।
उत्पन्न है क्षेत्रज्ञ के और क्षेत्र संगम सार में॥
पार्थ यह तुम जान लो मैं ही सदा क्षेत्रज्ञ हूँ।
क्षेत्र है यह देह तो मैं व्याप्त हूँ सर्वज्ञ हूँ॥ (26)

(25)

सब चर अचर में जो पुरुष मुझ ईश को पहचानता।
नष्ट मैं होता नहीं समबुद्धि से ही जानता॥
वस्तुतः वह पुरुष ही बस प्राप्त मुझको कर सदा।
लौटकर आता नहीं संसार सागर तर सदा॥ (27)

(26)

क्योंकि जो नर सब जगह सम भाव से लखते हुए।
देखता मुझको सदा ही दृष्टि रस चखते हुए॥
नष्ट भी करता नहीं निज को स्वयं के कर्म से।
परम गति को प्राप्त हो सम बुद्धि के ही धर्म से॥ (28)

(27)

कर्म करती प्रकृति ही तत्त्व को जो जानता।
कर्ता नहीं हूँ मैं यहां इस तथ्य को पहचानता॥
वस्तुतः वह पुरुष ही बस प्राप्त होता है मुझे।
देखना उसका सही है यह बताता हूँ तुझे॥ (29)

(28)

सब प्राणियों के पृथक् भावों को मुझी में जानकर।
विस्तार मैं करता सदा इस सत्य को पहचान कर॥
प्राप्त होता है मुझे फिर जन्म भी पाता नहीं।
परम गति को प्राप्त होता लौटकर आता नहीं॥ (30)

(29)

अनादि गुण परमात्मा का, नाश भी होता नहीं।
निर्गुण सदा वह ईश है इस सृष्टि से खोता नहीं॥
देह में स्थित सदा निर्लिप्त है सब धर्म से।
पार्थ कहता हूँ तुझे बाधित नहीं है कर्म से॥ (31)

(30)

सर्वव्यापी गगन जैसे सूक्ष्म है निर्लिप्त है ।
 सर्वव्यापी ईश भी अति सूक्ष्म और अलिप्त है ॥
 एक अकेला सूर्य ही ब्रह्माण्ड को भासित करे ।
 परमात्मा भी एक ही सब क्षेत्र उद्भासित करे ॥ (32-33)

(31)

इस भांति जो क्षेत्रज्ञ के और क्षेत्र के इस सत्य को ।
 अन्तर रहित पहचानता है ज्ञान चक्षु तत्व को ॥
 क्षेत्र है नश्वर सदा सब विकृति का गार है ।
 नित्य है क्षेत्रज्ञ निराकार निर्विकार है ॥ (34)

(32)

हे पार्थ जो इस तत्व को निज ज्ञान के आलोक से ।
 जान लेता है यहां वह दूर हो सब शोक से ॥
 प्राप्त मुझको हो सदा फिर जन्म भी पाता नहीं ।
 संसार सागर तर सदा ही लौटकर आता नहीं ॥ (34)

त्रयोदशोऽध्यायः समाप्तः

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

(1)

ज्ञान के सोपान में अब श्रेष्ठतम विज्ञान को ।
मैं कहूंगा पार्थ तुमको अवस्थित कर ध्यान को ॥
जानकर जिसको मुनिजन परम सिद्धि पा गये ।
मुक्त हो संसार से पर धाम में ही आ गये ॥ (1)

(2)

इस ज्ञान का आश्रय लिए मम रूप को पाकर सदा ।
जन्म फिर लेते नहीं है मृत्यु को जाकर सदा ॥
सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न वे होते नहीं ।
प्रलय की चिर नींद में भी वे कभी सोते नहीं ॥ (2)

(3)

सब प्राणियों की योनियों में गर्भ मैं धरता सदा ।
चर अचर के योग से उत्पन्न भी करता सदा ॥
प्रकृति है जन्मदात्री गर्भ को धरकर यहां ।
बीजदाता मैं पिता हूँ सृष्टि को भरकर यहां ॥ (3-4)

(4)

सत्त्व रज और तमोगुण माया जनित तुम मान लो ।
जीवात्मा को देह में वे बांधते पहचान लो ॥
सत्त्व गुण निर्मल प्रकाशित विकृति से हीन है ।
बांधता जीवात्मा को ज्ञान सुख में लीन है ॥ (5-6)

(5)

ममता मयी यह रजोगुण आसक्तियों से युक्त है ।
कर रहा जीवात्मा को कर्मफल से सिक्त है ॥
तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता सृष्टि में ।
अर्जुन सुनो यह प्राणियों की मोह भरता दृष्टि में ॥ (7-8)

(6)

तमोगुण तो बांधता आलस्य, नींद प्रमाद में।
 आसुरी वृत्ति जगाता शोक देता बाद में॥
 सत्व गुण सुख में लगाता रजोगुण फिर कर्म में।
 तमोगुण तो ज्ञान ढक कर चिर प्रभादी धर्म में॥ (8-9)

(7)

अर्जुन सुनो यदि सत्व गुण सौभाग्य से बढ़ता यहां।
 रजो गुण और तमो गुण से शीर्ष पर चढ़ता यहां॥
 रजोगुण की वृद्धि होती सत्वतम को लांघकर।
 तमोगुण बढ़ता यहां फिर सत्व रज को बांधकर॥ (10)

(8)

जिस काल अर्जुन देह के सब द्वार उद्भासित रहें।
 इन्द्रियाँ भी सजग हो और ज्ञान भी भासित रहें॥
 तब समझना चाहिए यह सत्व गुण की वृद्धि है।
 पुण्य कर्मों का उदय है सौख्य की अभिवृद्धि है॥ (11)

(9)

जब कामनायें जन्म देती लोभ को और स्वार्थ को।
 विषय की हो लालसा बस हीन कर पुरुषार्थ को॥
 सकाम कर्मारम्भ हो और शान्ति होती दूर है।
 तब समझना चाहिए अब रजोगुण भरपूर हैं॥ (12)

(10)

तमोगुण की वृद्धि से अज्ञानतम छाता यहाँ।
 कर्तव्य कर्मों में सतत आलस्य ही आता यहाँ॥
 मोह निद्रा व्याप्त हो अन्तःकरण की शुद्धि भी।
 चिर प्रमादी पुरुष हो और नष्ट होती बुद्धि भी॥ (13)

(11)

सत्व गुण की वृद्धि में जो मृत्यु को पाता सदा।
 कर्म उत्तम कर यहां फिर स्वर्ग को जाता सदा॥
 रजोगुण में मृत्यु पाकर मनुज योनि पा यहां।
 तमोगुण में नरक में या नीच योनि जा यहां॥ (14-15)

(12)

श्रेष्ठ कर्मों का सुफल ही सत्त्व गुण होता यहां।
पाकर जिसे नर ज्ञान सुख वैराग्य में खोता यहां॥
रजोगुण का दुःख है बंधता यहां नर लोक में।
तमोगुण अज्ञान देता फिर गिराता शोक में॥ (16)

(13)

उत्पन्न करता ज्ञान को ही सत्त्व गुण बढ़कर यहां।
लोभ का कारण सदा ही रजोगुण चढ़कर यहां॥
मोह और प्रमाद को तामस बढ़ाता है यहां।
अज्ञान को ही जन्म देता शान्ति खाता है यहां॥ (17)

(14)

सत्त्व गुण स्थित पुरुष स्वर्गादि ऊंचे लोक में।
रजोगुण व्यापी पुरुष तो बंध सदा भूलोक में॥
तामसी गुण वृद्धि से नर नरक में जाते सदा।
नीच योनि पाशविक और कीट की पाते सदा॥ (18)

(15)

तीन गुण से अन्य कुछ कर्ता नहीं संसार में।
ज्ञानी पुरुष जब देखता है सृष्टि के व्यापार में॥
इन गुणों से दूर जब मुझ ईश को ही जानते।
मुझ ईश के ही रूप में इस तत्त्व को पहचानते॥ (19)

(16)

जो पुरुष इन तीन गुण के बन्धनों को तोड़कर।
निर्लिप्त होता है यहां सब ध्यान मुझ में जोड़कर॥
जन्म मृत्यु और जरा के दुःख से वंचित हुआ।
प्राप्त होता है मुझे सुख-शान्ति से सिंचित हुआ॥ (20)

(17)

पार्थ बोले हे प्रभो इन तीन गुण से मुक्त हो।
आचरण केसाकरे किन लक्षणों से युक्त हो॥
और बन्धन मुक्त कैसे हो सके वह नर यहाँ।
प्राप्त तुमकोकरसके किन साधनों को कर यहाँ॥ (21)

(18)

श्रीकृष्ण बोले पार्थ सुन जो सत्त्व गुण आलोक को ।
तमोगुण के मोह को और रजोगुण के भोग को ॥
प्राप्त यदि हो जाय तो फिर द्वेष भी करता नहीं !
यदि उनसे दूर हो तो हृदय में धरता नहीं ॥ (22)

(19)

मात्र साक्षी वन यहाँ विचलित नहीं गुण धर्म से ।
परमात्मा स्थित हुआ बाधित नहीं हो कर्म से ॥
आत्मा स्थित हुआ सम देखता सुख क्लेश को ।
स्वर्ण और पाषाण में नहीं मोह को या द्वेष को ॥ (23-24)

(20)

प्रियाप्रिय में एक हो भासित रहे सज्ञान से ।
निन्दा प्रशंसा एक कर उनको हटा दे ध्यान से ॥
मान और अपमान में भी ध्यान जो धरता नहीं ।
मित्र शत्रु पक्ष में भी भेद जो करता नहीं ॥ (24-25)

(21)

कर्म सब निष्पन्न कर कर्ता नहीं बनता कभी ।
वह गुणों से मुक्त है नहीं कर्म में सनता कभी ॥
शुद्ध भक्ति योग से मुझको सदा भजते हुए ।
ब्रह्म प्राप्ति योग्य है गुण धर्म सब तजते हुए ॥ (25-26)

(22)

क्योंकि मैं सब ब्रह्म का हूँ, और शाश्वत धर्म का ।
अमृत मयी अविनाश का हूँ सौख्य वर्द्धक कर्म का ॥
आश्रय रहा हूँ सर्वदा यह तथ्य बतलाता तुझे ।
सर्वशक्ति युत समझ पर ब्रह्म ही मानो मुझे ॥ (27)

चतुर्दशोऽध्यायः समाप्तः

अथ पंचदशोऽध्यायः

(1)

संसार पीपल वृक्ष है सबलोक यह कहते यहाँ।
जिसकी जड़ें गहरी बहुत परब्रह्म है रहते जहाँ॥
मूल है परब्रह्म ही उत्पन्न कर संसार को।
उर्ध्वमूली विश्व को सब सृष्टि के व्यापार को॥ (1)

(2)

उस लोक से नीचे उसे ब्रह्मा सकल संसार को।
अधःशाखा विश्व को इस सृष्टि के विस्तार को॥
सृजन करता है सदा और मुख्य शाखा है वही।
वेद जिसके पत्र हैं संसार पादप है यही॥ (1)

(3)

जो जानते हैं तत्त्व से संसार के इस भेद को।
वास्तव में जानते हैं ईश को और वेद को॥
संसार के इस वृक्ष की सब ओर शाखा व्याप्त है।
गुण वारि से सिंचित हुई विस्तार को ही प्राप्त है॥ (1-2)

(4)

भोग है किसलय इसी के व्याप्त मानव लोक में।
देवता, मानव, पशु की योनियाँ तिहुँ लोक में॥
शाख बनकर फैलती है कर्म के अनुसार ही।
जड़ें इसकी अहं ममता वासना का सार ही॥ (2)

(5)

संसार के इस वृक्ष का वर्णन सभी मिलता यहाँ।
ज्ञान की उत्पत्ति से चिरकाल है फलता यहाँ॥
आदि भी इसका नहीं और अन्त भी होता नहीं।
अच्छी दशा भी है नहीं चिरकाल यह खोता नहीं॥ (3)

(6)

अहं ममता वासना की जड़ लिए सब काल में।
 फैलता फलता रहा सब लोक में हर हाल में॥
 संसार पीपल वृक्ष को वैराग्य तेज कुठार से।
 हो सके गा काटना बस ज्ञान पैनी धार से ॥ (3)

(7)

काटकर इस वृक्ष को फिर परम पद जगदीश को।
 खोजना बस चाहिए उत्पन्न कर्ता ईश को॥
 "मैं शरण में हूँ प्रभो" कहते हुए निजध्यान को।
 चिन्तन मनन करते हुए अर्पण करे निज ज्ञान को ॥ (4)

(8)

प्राप्त कर इस ज्ञान को फिर जन्म भी पाता नहीं।
 मुक्ति पा संसार से फिर लौटकर आता नहीं॥
 अहं ममता त्यागकर आसक्तियों को छोड़कर।
 शान्त कर निज कामनायें ब्रह्म में लौ जोड़कर ॥ (4-5)

(9)

सुख दुःख द्वन्द्वों से परे सज्ञान ध्यानी नर यहाँ।
 मुक्त हो संसार से परधाम को पाकर वहाँ॥
 परम् पद को प्राप्त होकर लौटकर आता नहीं।
 मुझमें समाहित हो सदा फिर जन्म भी पाता नहीं ॥ (5)

(10)

चन्द्रमा, आदित्य, पावक नहि प्रकाशित कर सके।
 स्वयं भासित धाम मेरा तेज क्या ये धर सकें॥
 जहाँ पहुँचकर नर यहाँ फिर लौटकर आता नहीं।
 मुक्त हो संसार से फिर जन्म भी पाता नहीं ॥ (6)

(11)

अंश मेरा ही प्रतिष्ठित प्राणियों की देह में।
 आत्मा शाश्वत वही है देह रूपी गेह में॥
 पंच इन्द्रिय और मन को प्रकृति से खींचकर।
 पल्लवित करता सदा गुण तीन जल से सींचकर ॥ (7)

(12)

जिस भांति वायु गन्ध को भी साथ ले जाता सदा ।
 उस भांति ही जीवात्मा भी देह में लाता सदा ॥
 फिर छोड़ता जब देह को तो साथ में लेकर सभी ।
 इन्द्रियाँ मन देह में अन्यत्र थापित कर तभी ॥ (8)

(13)

कर्ण चक्षु स्पर्श रसना, घ्राण से मन से तथा ।
 भोग विषयों को करे जीवात्मा तन से सदा ॥
 तन व्यवस्थित आत्मा को छोड़कर जाते हुए ।
 भोग में आसक्ति को ही जोड़कर आते हुए ॥ (9-10)

(14)

देखते हैं ज्ञानी जन ही ज्ञान चक्षु से सदा ।
 अज्ञान से मोहित हुए क्या देख सकते हैं कदा ॥
 योगी जन भी यत्न से ही देह में स्थित हुए ।
 आत्मा को देख सकते ध्यान में ही स्थित हुए ॥ (10-11)

(15)

किन्तु अज्ञानी कहाँ सब यत्न भी करते हुए ।
 देख सकते हैं भला अज्ञानतम भरते हुए ॥
 सूर्य शशि और अनल में जो तेज है आया हुआ ।
 वह तेज मेरा ही समझ सब लोक में छाया हुआ ॥ (11-12)

(16)

भूमि में हूँ श्लिष्ट मैं ही धारता सब लोक को ।
 सुधा बनकर बस रहा हूँ प्राप्त मैं शशि लोक को ॥
 सींचता हूँ पेड़-पौधे पुष्ट हूँ करता सदा ।
 औषधी में मैं सतत् पीयूष को भरता सदा ॥ (13)

(17)

मैं जठर की आग हूँ इन प्राणियों की देह में ।
 अपान से और प्राण से मिल चतुर्विध इस गेह में ।
 खाना, निगलना, चाटना और चूसनादि भोज्य को ।
 मैं पचाता हूँ सदा और जोड़ता हूँ योज्य को ॥ (14)

(18)

अन्तर्यामी रूप में सबके हृदय में मैं सदा ।
 ज्ञान स्मृति विमर्श शक्ति मैं ही रहता सर्वदा ॥
 वेद भी मुझको बताते जानने के योग्य हूँ ।
 वेदान्त का कर्ता हूँ मैं और वेद ज्ञाता भोग्य हूँ ॥ (15)

(19)

दो पुरुष इस लोक में जीवात्मा और देह है ।
 जीवात्मा तो नित्य है, और क्षणिक इसका गेह है ॥
 श्रेष्ठ इनसे अन्य है तिहूँ लोक में जो व्याप्त है ।
 परमात्मा, शाश्वत, अनादि नाम को जो प्राप्त है ॥ (16-17)

(20)

क्योंकि मैं इस क्षणिक जग से परे रहता हूँ सदा ।
 अव्ययी जीवात्मा से श्रेष्ठ भी हूँ सर्वदा ॥
 इसलिए ही लोक में और वेद में जाना गया ।
 पुरुष उत्तम नाम से ही प्रथित हूँ माना गया ॥ (18)

(21)

ज्ञानी पुरुष जो लोक में इस तत्त्व को पहचानता ।
 पुरुष उत्तम रूप में मुझ ईश को ही जानता ॥
 सर्वज्ञ है वह पुरुष जग में निरन्तर भजता हुआ ।
 मोक्ष गामी हो सदा संसार को तजता हुआ ॥ (19)

(22)

निष्पाप अर्जुन शास्त्र यह जो गोपनीय अनन्त है ।
 मैंने बताया है तुझे तू भक्त भी है सन्त है ॥
 जानकर इस शास्त्र को ही पुरुष पाता ज्ञान को ।
 जीवन सफल वह मानता हो प्राप्त मेरे ध्यान को ॥ (20)

पंचदशोऽध्यायः समाप्तः

अथ षोडशोऽध्यायः

(1)

अर्जुन सुनो अब दैवी सम्पत् को यहां बतला रहा ।
 पुरुष जिसको प्राप्त कर इस लोक में ही आ रहा ॥
 अभय, पावनता हृदय ही तत्त्वज्ञानी योग भी ।
 इन्द्रियों का निग्रह तप यज्ञ का उपयोग भी ॥ (1)

(2)

दान सात्विक शास्त्रपाठन देवता अर्चन तथा ।
 गुरुजनों को पूजना और ज्ञान का अर्जन सदा ॥
 अहिंसा भी सत्य भी और क्रोध को करना नहीं ।
 त्याग करना पिशुनता को हृदय में धरना नहीं ॥ (1-2)

(3)

शान्ति मन में दया भी अन्तःकरण में सरलता ।
 प्राणियों पर स्नेह भी और लोभ की नहीं गरलता ॥
 हृदय कोमल हो सदा, लज्जित रहे अपकर्म से ।
 व्यर्थ चेष्टा छोड़ना और स्नेह सच्चा धर्म से ॥ (2)

(4)

तेज सात्विक क्षमा भी, धैर्य शुद्धि बाह्य भी ।
 त्यागना रिपु भाव को अभिमान हो अग्राह्य भी ॥
 इन गुणों से युक्त ही नर दैवी सम्पत् युक्त है ।
 श्रेष्ठ है वह जगत में सब बन्धनों से मुक्त है ॥ (3)

(5)

आसुरी सब सम्पदा भी मैं तुझे कहता यहाँ ।
 नरलोक में आता पुरुष इन सभी को गहता यहाँ ॥
 क्रोध, कामी, दम्भ भी और अहं भी अभिमान भी ।
 असत्य निर्दयता यहाँ पाखण्ड भी अज्ञान भी ॥ (4)

(6)

दैवी सम्पद् मोक्ष को और आसुरी बन्धन यहाँ।
 दे रही है सर्वदा ही कुन्ती के नन्दन यहाँ॥
 शोक को त्यागो धनञ्जय दैवी सम्पत् के लिए।
 जन्म यह तेरा हुआ है, शोक है फिर किसलिए॥ (5)

(7)

दो तरह के देहधारी रह रहे संसार में।
 देवगुण सम्पन्न भी और आसुरी व्यापार में॥
 दैवगुण को कह चुका हूँ मैं यहां विस्तार में।
 पार्थ सुन लो आसुरी भी जो जहाँ संसार में॥ (6)

(8)

आसुरी नर तो यहाँ गुणदोष भी नहीं मानते।
 प्रवृत्ति और निवृत्ति को भी नहीं पहचानते॥
 अन्तःकरण और बाह्य की शुद्धि नहीं आचार भी।
 आता नहीं है तनिक इनको सत्य का व्यापार भी॥ (7)

(9)

कह रहे हैं आसुरी यह जगत मिथ्या ईश है।
 आश्रय रहित है कल्पना ही मात्र वह जगदीश है॥
 उत्पन्न होती सृष्टि तो बस नारी नर संयोग से।
 काम को ही मानते सन्तुष्ट होते भोग से॥ (8)

(10)

ज्ञान मिथ्या के सहारे नष्ट होता भाव ही।
 मन्दबुद्धि हो सदा अपकार में सब भाव ही॥
 क्रूर कर्मी बन सदा ही नाश करते लोक का।
 मार्ग सब अवरुद्ध करते लोक का परलोक का॥ (9)

(11)

पूरी नहीं जो हो सके बस कामना ऐसी लिए।
 दम्भ और अभिमान मद से बुद्धि भी वैसी किए॥
 मोह से ग्रासित हुए अज्ञान से भासित हुए।
 पतित होकर घूमते हैं जगत में त्रासित हुए॥ (10)

(12)

असंख्य चिन्ता से ग्रसित जो मृत्यु तक चलती रहे ।
 विषयभोगी कामना बस हृदय में पलती रहे ॥
 सीमा सुखों की यही है यह मानते रहते सदा ।
 मोक्ष क्या है, ईश क्या सब झूठ है कहते सदा ॥ (11)

(13)

आशा बन्धन सैकड़ों से बंध यहाँ संसार में ।
 क्रोध में तत्पर सदा ही, काम के व्यापार में ॥
 भोग विषयों के लिए धन चाहते हर रीति से ।
 अन्याय में ही लिस होकर दूर है भवभीति से ॥ (12)

(14)

सोचते हैं आज इतना प्राप्त है कल और भी ।
 यह मनोरथ सिद्ध होगा कब करूँगा और भी ॥
 शेष इतना धन रहा है कल वहाँ से आयेगा ।
 काम यह भी पूर्ण है कल दूसरा हो जायेगा ॥ (13)

(15)

आज मारा एक रिपुको दूसरे कल तक सही ।
 मार डालूँगा उन्हें निश्चय किये रहता यही ॥
 सोचता मैं ईश हूँ सब भोग को पाता यहाँ ।
 सिद्ध भी बलवान भी सब सौख्य को लाता यहाँ ॥ (14)

(16)

धन भी मेरे पास है, परिवार भी मेरा यहाँ ।
 मेरी तुलना में रहे हैं दूसरा कोई कहाँ ॥
 मैं करूँगा यज्ञ भी और दान भी आमोद भी ।
 अज्ञान से मोहित हुआ पर मानता है मोद ही ॥ (15)

(17)

भ्रमित मन हो पड़ रहा है मोह के इस जाल में ।
 भोग विषयासक्त गिरता नरक के ही गाल में ॥
 श्रेष्ठ हूँ मैं जगत मैं वह पालता अभिमान को ।
 मान धन के दर्प में ही भूलता सब ज्ञान को ॥ (16-17)

(18)

दिखाने को यज्ञ कर पाखण्ड को अपना रहा ।
 शास्त्र विधि से रहित सारे कर्म को पनपा रहा ॥
 अहं बल अभिमान पूरित क्रोध कामी हो सदा ।
 निन्दा पराई रत रहे और पाप नामी हो सदा ॥ (17-18)

(19)

अन्तःकरण में बस रहे मुझ ईश से भी द्वेष को ।
 पालता है, पा रहा है जगत के सब क्लेश को ॥
 क्रूरकर्मी पापियों और अधम नर अज्ञान को ।
 जन्म देता आसुरी योनि सदा शैतान को ॥ (18-19)

(20)

युग युगों में आसुरी योनि सदा पाते हुए ।
 पा नहीं सकते मुझे बस अधम गति जाते हुए ॥
 तीन दरवाजे नरक के आत्मा का नाश कर ।
 क्रोध, लालच, कामना इस हृदय में ही वास कर ॥ (20-21)

(21)

इसलिए हे पार्थ इनको त्याग देना चाहिए ।
 त्यागकर इनको सदा सब सौख्य लेना चाहिए ॥
 मुक्त हो इनसे पुरुष कल्याणकारी पथ सदा ।
 प्राप्त करता परमगति मुझमे यहाँ रह रत सदा ॥ (21-22)

(22)

शास्त्र विधि से रहित जो नर कर रहे हैं कर्म को ।
 सिद्धि वे पाते नहीं हैं नष्ट करते धर्म को ॥
 सुख भी नहीं मिलता उन्हें वे परम गति पाते नहीं ।
 अधमगति में फँस रहे ममधाम में आते नहीं ॥ (23)

(23)

इसलिए हे पार्थ तू सब शास्त्र विधि से कर्म कर ।
 शास्त्र ही को कर प्रमाणित देह के सब धर्म कर ॥
 शुभकर्म क्या अपकर्म क्या सब शास्त्र से पहचान लो ।
 परम गति को प्राप्त होगा सत्य इसको मान लो ॥ (24)

समाप्तः षोडशोऽध्यायः

अथ सप्तदशोऽध्यायः

(1)

शास्त्र विधि से रहित हो जो यजन भी करते यहाँ।
पूर्ण श्रद्धा युत हुए जो भजन भी करते यहाँ॥
सत्त्व रजतम कौनसी निष्ठा यहाँ माधव कहो।
मुझको बताये अब यहाँ कौन्तेय ने पूछा अहो ॥ (1)

(2)

श्रीकृष्ण बोले हे धनञ्जय तीन श्रद्धा है यहाँ।
देह में स्थित सभी के मैं बताता हूँ यहाँ॥
सत्त्व रज और तामसी जो भाव से ही सिद्ध है।
संस्कारों रहित हैं जो हृदय में आबद्ध हैं ॥ (2)

(3)

हर पुरुष में श्रद्धा सदा निज सत्त्व के अनुसार ही।
अन्तःकरण जैसा रहे तद्रूप सब व्यापार ही॥
श्रद्धामयी है पुरुष वह निजभाव में जो लित है।
भाव के अनुसार ही सब कर्मजों से सिक्त है ॥ (3)

(4)

सत्त्व श्रद्धा पुरुष संतत देव आराधन करे।
राजसी श्रद्धा पुरुष तो राक्षसी साधन करे॥
प्रेत का पूजन सदा ही तामसी श्रद्धा लिए।
कर रहे हैं रात दिन अन्तःकरण में स्थिर किए ॥ (4)

(5)

तप रहे हैं घोर तप जो शास्त्र विधि को छोड़कर।
दम्भ से और अहं से आसक्तियों को जोड़कर॥
अभिमान बल से युक्त होकर कामना करते हुए।
दुःख पीड़ा क्लेश का ही सामना करते हुए ॥ (5)

(6)

देह स्थित इन्द्रियों को कृश सदा करते हुए ।
 हृदयस्थ मुझ देवेश को भी कष्ट में धरते हुए ॥
 आत्मा के गेह को भी कष्ट में खोते सदा ।
 अज्ञान से परिपूर्ण अर्जुन आसुरी होते सदा ॥ (6)

(7)

भोजन सभी को रोचता है तीन विध ही सर्वदा ।
 यज्ञ तप और दान भी बस तीन विध होते सदा ॥
 आयुर्वर्द्धक, बुद्धिवर्द्धक, कान्ति, बल, आरोग्य को ।
 प्रीति को और सौख्य को रसयुक्त चिक्कण भोग्य को ॥ (7-8)

(8)

मन को सदा ही प्रिय लगे स्थायी रहे कुछ काल तक ।
 सत्व श्रद्धा पुरुष को रूचिकर रहे बहु काल तक ॥
 सात्विक भोजन यही उपरोक्त सारे गुण लिए ।
 शान्ति सुख को दे सदा ही सात्विकी श्रद्धा लिए ॥ (8)

(9)

कटु, कषायी, लवणयुत और अम्ल तीखे गर्म भी ।
 रुक्ष, चिन्ता, दुःखदायी, दाहकारी, नर्म भी ॥
 राजसी आहार है जो राजसी श्रद्धा लिए ।
 भक्ष करते हैं सदा अन्तःकरण में थिर किये ॥ (9)

(10)

अधपका आहारवासी, पवित्रता से हीन भी ।
 उच्छिष्ट भी दुर्गन्धयुत और आसुरी रसहीन भी ॥
 तामसी श्रद्धा लिए नर खा रहे भोजन सदा ।
 भाव बढ़ते आसुरी ही नीच योनि जन सदा ॥ (10)

(11)

शास्त्र विधि से यज्ञ करना मानते कर्तव्य जो ।
 निश्चयी मन जानते हैं शास्त्र से ज्ञातव्य को ॥
 इच्छा रहित है यज्ञ फल की, कर रहे हैं कर्म को ।
 सात्विक वह यज्ञ है आगे बढ़ाता धर्म को ॥ (11)

(12)

किन्तु अर्जुन दम्भ से पाखण्ड से जो यज्ञ है।
 और फल आकांक्षा से कर रहे जो अज्ञ है॥
 राजसी वह यज्ञ है तुमको बताता हूँ यहाँ।
 केवल दिखावा लोक को अज्ञान ही मानो वहाँ॥ (12)

(13)

यज्ञ जिसमें मंत्र न हो शास्त्रविधि को छोड़कर।
 अन्न का भी दान न हो ज्ञान से मुंह मोड़कर॥
 श्रद्धारहित बिन दक्षिणा के कर रहे जो अज्ञ हैं।
 नष्ट करता लोक को वह तामसी ही यज्ञ है॥ (13)

(14)

देवता गुरु विप्र ज्ञानी पूजना आराधना।
 अन्तःकरण की शुद्धता समचितता की साधना॥
 अहिंसा पालन सदा निज इन्द्रियाँ वश में रहें।
 सद्ग्रन्थ ज्ञानी वेद इसको देह का ही तप कहें॥ (14)

(15)

छोड़कर आवेग को, प्रिय सत्य ही भाषण सदा।
 भूतहित में बोलना स्वाध्याय ही आसन सदा॥
 वेद शास्त्रों का पठन परमेश का ही जप सदा।
 पार्थ कहलाता यहाँ यह वाणी का ही तप सदा॥ (15)

(16)

शान्त भावों को लिए मन में लिए नित मोद भी।
 ईश का चिन्तन सदा ही आत्मा आमोद भी॥
 निग्रहित मन को करे अन्तःकरण पावन तथा।
 तपस्या है मानसिक इसको सभी कहते सदा॥ (16)

(17)

फल की इच्छा छोड़कर योगी सदा करते हुए।
 परम श्रद्धायुक्त होकर तपस्या चरते हुए॥
 मानसिक वाचिक शरीरी योगी ही गहते इन्हें।
 सात्त्विक है तप यही सब वेद भी कहते इन्हें॥ (17)

(18)

सत्कार पूजा मानहित पाखण्ड से परिपूर्ण जो ।
 स्वार्थ सिद्धि के लिए ही दम्भ से हो पूर्ण जो ।
 फल अनिश्चित क्षणिक भी जो तप यहाँ करते सदा ॥
 राजसी वह तप कहाता रजोगुण चरते सदा ॥ (18)

(19)

मूर्खता से पूर्ण, हठ से वाणी मन को कष्ट जो ।
 देह पीड़ा और परको चाहते हैं नष्ट जो ॥
 तामसी है यज्ञ ऐसा मैं बताता हूँ तुझे ।
 धर्म के विपरीत है यह सत्य बतलाता तुझे ॥ (19)

(20)

सत्त्व रज और तामसी ही तीन होते दान भी ।
 जान लेना चाहिए तुमको यहाँ यह ज्ञान भी ॥
 दान की इस भावना में छोड़ प्रति उपकार को ।
 देश के अनुसार ही और काल के अनुसार जो ॥ (20)

(21)

सत्पात्र को देना यही तो सत्त्वगुण का दान है ।
 सात्विक कहते इसे इस दान की पहचान है ॥
 किन्तु जो हो क्लेश युत उपकार की आशा लिए ।
 कामना फल को लिए और आत्म जिज्ञासा लिए ॥ (20-21)

(22)

राजसी वह दान है सद्ग्रन्थ भी कहते यहीं ।
 और जो अपमानपूर्वक दिया जाता है कहीं ॥
 देश को और काल को सत्पात्र को सहते नहीं ।
 तामसी वह दान है सब शास्त्र भी कहते यहीं ॥ (21-22)

(23)

ओम तत् सत् तीन विध पर ब्रह्म का ही नाम है ।
 सृष्टि के प्रारम्भ में सब सृजन जिसका काम है ॥
 यज्ञ ब्राह्मण वेद की उत्पत्ति भी जिससे हुई ।
 और सारी सृष्टि की निष्पत्ति भी जिससे हुई ॥ (23)

(24)

इसलिए ही वेद विद् हर कार्य के आरम्भ में।
शास्त्र विधि से दान तप और यज्ञ के प्रारम्भ में॥
ओम उच्चारण करें फिर कार्य है करते सदा।
ब्रह्म के इस नाम को ही हृदय में धरते सदा ॥ (24)

(25)

तत् शब्द है परमात्मा की हर क्रिया दर्शा रहा।
तत् भाव से प्रेरित पुरुष हो ईश में ही जा रहा॥
कल्याण की इच्छा लिए सब कर्म फल को छोड़ते।
दान तप और यज्ञ को परमात्मा में जोड़ते ॥ (25)

(26)

सत् शब्द भी परमात्मा की श्रेष्ठता का नाम है।
सत्य की है भावना सब श्रेष्ठता का काम है॥
कर्म उत्तम में सदा सत् शब्द का उपयोग है।
श्रेष्ठ कर्मों से सदा बस श्रेष्ठता का भोग है ॥ (26)

(27)

यज्ञ तप और दान में यह सत् कहाता है सदा।
उस ब्रह्म का हर कर्म ही सत् श्रेष्ठ हो जाता सदा॥
श्रद्धा बिना सब दान तप और भजन आदि कर्म भी।
असत् कहलाते सदा और नष्ट करते धर्म भी ॥ (27-28)

समाप्तः सप्तदशोऽध्यायः

अथ अष्टादशोऽध्यायः

(1)

कौन्तेय ने फिर यूँ कहा हे प्रभो यह बतलाइये ।
त्याग और सन्यास क्या है, यह मुझे समझाइये ॥
त्याग और सन्यास को मैं चाहता हूँ जानना ।
अलग हैं या एक हैं समझाइये पहचानना ॥ (1)

(2)

हे पार्थ यूँ श्री कृष्ण बोले तुम सुनो यह ध्यान से ।
फिर करो पहचान इसकी स्वयं के ही ज्ञान से ॥
विद्वान् कुछ कहते यही हैं, काम्य सारे कर्म का ।
त्याग ही सन्यास है, है सार सारे धर्म का ॥ (2)

(3)

किन्तु कुछ ज्ञानी पुरुष बस कर्मफल को त्यागना ।
त्याग ही है, कह रहे, नहीं कर्म से यूँ भागना ॥
यज्ञ तप और दान सारे इष्ट हैं पाते सदा ।
शुद्धमन से जो करे वे काम्य कहलाते सदा ॥ (3)

(4)

कर्म सारे दोषयुत कुछ लोग ऐसा मानते ।
त्याग्य हैं वे इसलिए इस सत्य को पहचानते ॥
और कुछ तो मानते हैं यज्ञ तप और दान को ।
योग्य है नहीं त्यागना, विकसित करे सुज्ञान को ॥ (3)

(5)

नर श्रेष्ठ हे अर्जुन सुनो पहले बताता त्याग को ।
सत्त्व रज और तामसी पश्चात् इसके भाग को ॥
दान तप और यज्ञादि कर्म करने योग्य है ।
त्यागना इनको नहीं ये शुद्ध नर से भोग्य हैं ॥ (4-5)

(6)

किन्तु फल का त्याग हो आसक्तियाँ भी हों नहीं।
 कर्म ये करणीय हैं, है मेरा मत निश्चित यही॥
 त्यागता है मोह से जो नियत कर्मों को यहाँ।
 तामसी वह त्याग है विद्वान कहते हैं यहाँ॥ (6-7)

(7)

दुःख से परिपूर्ण सारे कर्म हैं संसार में।
 सोचते जो क्लेश भय से कर्म के व्यापार में॥
 प्रवृत्त होते ही नहीं शुभ कर्म करते ही नहीं।
 त्याग वह राजस कहाता त्याग फल धरते नहीं॥ (7-8)

(8)

कर्म करता है यहाँ जो नियत कर्मों युत हुआ।
 कर्मजों को त्यागता आसक्तियों से च्युत हुआ॥
 शास्त्र विधि से कर्म करना ही उचित जो मानता।
 त्याग सात्त्विक है वही वह सत्य को पहचानता॥ (9)

(9)

कर्म में यदि त्रुटि रहे तो द्वेष वह करता नहीं।
 कुशल कर्मों में कभी आसक्ति को धरता नहीं॥
 संशय रहित वह पुरुष ही इस लोक में सत्त्विक है।
 त्याग सच्चा है वही वह पुरुष ही सत्य मान है॥ (10)

(10)

देहधारी कर्म सारे छोड़ तो सकता नहीं।
 कर्म देहिक से कभी मुँह मोड़ तो सकता नहीं॥
 इसलिए तो कर्मफल का त्याग ही उसमें स्थान।
 त्याग वह ही श्रेष्ठ है विद्वान पुरुषों ने कहा॥ (11)

(11)

अच्छे बुरे मिश्रित यही थे कर्मफल जो सीम हैं।
 मिलाते रहें उनको सदा जो कर्म में सरसीम हैं॥
 कर्मफल त्यागी पुरुष को प्राप्त वे होते नहीं।
 कर्म सात्त्विक कर यहाँ फल में कभी छोरे नहीं॥ (12)

(12)

पांच हेतु कर्म के सब कर्म सिद्धि के लिए।
 कर्मफल का अन्त करने सांख्य दर्शन में कहे ॥
 मैं बताता हूँ तुझे तुम ध्यान से सुन लो यहाँ।
 कर्मफल से दूर होकर सार को चुन लो यहाँ ॥ (13)

(13)

कर्म आश्रय, और कर्ता, सभी साधन कर्म के।
 चेष्टाएँ क्रिया सब सम्पन्न दैहिक धर्म के ॥
 दैव जो कि पूर्वकृत शुभ अशुभ फल हैं कर्म के।
 पाँच हेतु हैं यही इस लोक देहिक धर्म के ॥ (14)

(14)

शास्त्र सम्मत या विमुख जो पुरुष करता कर्म है।
 कर्मणा, बाचा तथा मन से सभी जो धर्म हैं ॥
 पाँच कारण हैं यही सब कर्म के संसार में।
 प्रवृत्त होता है पुरुष इस कर्म के व्यापार में ॥ (15)

(15)

मलिन मति कुछ पुरुष तो कर्ता स्वयं को मानते।
 अज्ञानतम में डूबकर नहीं सत्य को पहचानते ॥
 किन्तु जो नर दूर हैं कर्तृत्व के अभिमान से।
 निर्लिप्त बुद्धि वे पुरुष मण्डित सदा सुज्ञान से ॥ (16)

(16)

मारकर सब लोक को भी मारता कुछ भी नहीं।
 पाप से बंधता नहीं अवधारता कुछ भी नहीं ॥
 प्रेरणा है तीन विधही ज्ञेय, ज्ञाता, ज्ञान है।
 कर्म संग्रह तीन विध, कर्ता क्रिया सामान है ॥ (17-18)

(17)

ज्ञान भी हैं तीन ही और कर्म कर्ता तीन है।
 गुणों की संख्या बनाते शास्त्र में जो लीन है ॥
 ध्यान से सुन लो धनञ्जय तुम्हें बतलाता यहाँ।
 कर्म, कर्ता, ज्ञान का सब भेद समझाता यहाँ ॥ (19)

(18)

सब प्राणियों में एक ही परमात्मा को मानकर ।
 अविभक्त, सम हो देखता है ईश को पहचान कर ॥
 वह ज्ञान सच्चा ज्ञान है सात्विक उसे कहते यहाँ ।
 इस श्रेष्ठता के ज्ञान को बस श्रेष्ठ नर गहते यहाँ ॥ (20)

(19)

किन्तु जो नर प्राणियों में एक ही जगदीश को ।
 अलग करके मानता है तन व्यवस्थित ईश को ॥
 राजसी वह ज्ञान है जो राजसी पाते यहाँ ।
 कर्म बन्धन में बंधे फिर लौटकर आते यहाँ ॥ (21)

(20)

कर्मरूपी देह में सम्पूर्णता जो मानते ।
 आसक्तियों से युक्त हो नहीं ईश को पहचानते ॥
 निम्नतम वह ज्ञान है सब तामसी कहते यहाँ ।
 तामसी वृत्ति पुरुष इस ज्ञान को लहते यहाँ ॥ (22)

(21)

कर्म के भी भेद को तुम अब सुनो विस्तार से ।
 पुरुष जिससे बंध रहा है लोक के व्यापार से ॥
 शास्त्र विधि से कर्म हो कर्ता स्वयं माने नहीं ।
 कर्म फल का त्याग हो और मोह को जाने नहीं ॥ (23)

(22)

द्वेष का लवलेश भी जिस कर्म में होता नहीं ।
 सात्विक वह कर्म है अज्ञान में खोता नहीं ॥
 किन्तु जो श्रम साध्य है सब भोग की इच्छा लिए ।
 अहंकारी पुरुष द्वारा कर्म की शिक्षा लिए ॥ (23-24)

(23)

किया जाता है यहाँ वह राजसी है कर्म ही ।
 वह सदा होता यहाँ बस रजोगुण का धर्म ही ॥
 किन्तु जो नर लोक में चिन्ता नहीं परिणाम की ।
 सामर्थ्य चिन्ता और हिंसा हानि सारे काम की ॥ (24-25)

(24)

अज्ञान से प्रारम्भ कर सम्पन्न करते कर्म को।
तामसी कहते सभी उस तमोगुण के धर्म को॥
त्रिविध कर्ता भेद भी मैं अब तुझे बतला रहा।
सत्त्व, राजस, तामसी, सब भेद भी समझा रहा॥ (25)

(25)

आसक्तियों से मुक्त हो और धैर्य से भी युक्त हो।
अहंकारी हो नहीं उत्साह से संयुक्त हो॥
कार्य की सिद्धि असिद्धि में सदा ही एक हो।
हर्ष दुःख व्यापे नहीं वह सात्विक कर्ता अहो॥ (26)

(26)

आसक्ति बन्धन से बंधा कर्ता सदा इस लोक में।
कर्म फल की कामना से डूबता दुःख शोक में॥
लोभी दुराचारी सदा जो कष्ट देता अन्य को।
राजसी कर्ता वही है प्राप्त राजस जन्य को॥ (27)

(27)

शिक्षा रहित अभिमानयुत जो धूर्त और अयुक्त हो।
दूसरों की जीविका के नाश में संयुक्त हो॥
शोककर्ता, आलसी हो, दीर्घ सूत्री हो महा।
तामसी कर्ता वही है वेद शास्त्रों ने कहा॥ (28)

(28)

त्रिविध बुद्धि और धृति भी मैं तुझे बतला रहा।
सम्पूर्णता से भेद सारे खोलकर समझा रहा॥
कर्म और अकर्म जो कि बुद्धि सम्यक् जानती।
प्रवृत्ति और निवृत्ति के मर्म को पहचानती॥ (29-30)

(29)

भय अभय और मोक्ष बन्धन जानती हैं तत्त्व को।
बुद्धि सात्विक है वही पहचानती इस सत्य को॥
आसक्ति फल को त्यागकर ही कर्म प्रवृत्ति मार्ग है।
देह का अभिमान तजकर कर्म निवृत्ति मार्ग है॥ (30)

(30)

(30)

कर्म और अकर्म को जो बुद्धि यदि जाने नहीं।
धर्म और अधर्म के भी भेद को माने नहीं॥
तत्त्व यह जाने बिना जो कर्म हैं करता यहाँ।
राजसी वह बुद्धि है, बन्धन सदा धरता यहाँ॥

(31)

(31)

तमोगुण से व्याप्त बुद्धि धर्म समझे पाप को।
विपरीत सारे धर्म को, सर्वोपरि ही आपको॥
तामसी बुद्धि वही है पार्थ यह जानो यहाँ।
नरक में ले जायेगी इस सत्य को मानो यहाँ॥

(32)

(32)

प्राण इन्द्रिय और मन को जोड़ती जो ईश से।
योग से एकत्व हो, जो ध्यान को जगदीश से॥
निष्काम कर्मी कर सदा जो जोड़ती शाश्वत यहाँ।
धृति सात्विक है वही हे पार्थ तुम जानो यहाँ॥

(33)

(33)

जिस धृति से नर यहाँ आसक्ति फल की चाह से।
धर्मार्थ कामों को धरे ही गुजरती जिस राह से॥
धृति वह ही राजसी है सत्य को पहचान लो।
धृति धारण शक्ति ही का नाम है यह जान लो॥

(34)

(34)

दुःख बुद्धि पुरुष जिससे दुःख चिन्ता मय यहाँ।
उन्मत्त रहता है सदा ही अहं निद्रामय यहाँ॥
धृति वह ही तामसी इस लोक में कहते सदा।
आसुरी धारण करे और व्याप्त ही रहते सदा॥

(35)

(35)

त्रिविध सुख के भेद को भी अब सुनो तुम ध्यान से।
में बताता हूँ तुझे तुम ग्रहण करना ज्ञान से॥
ध्यान कीर्तन ईश का सेवादि के अभ्यास से।
रमण करता है पुरुष और छूटता सब त्रास से॥

(36)

(36)

आरम्भ में यदि दुःखद हो विष तुल्य लगता हो यहाँ ।
 परिणाम सुखकारी सदा ही सुधा से पगता यहाँ ॥
 परिणाम विषयक बुद्धि से जो नर सदा पाता यहाँ ।
 पार्थ सच्चा सुख वही है सत्त्व कहलाता यहाँ ॥ (37)

(37)

भोग इन्द्रिय योग से जो सुख मिले प्रारम्भ में ।
 अमृत समझता है पुरुष पड़कर यहाँ अति दम्भ में ॥
 परिणाम हो विषतुल्य जिसका सामने आता यहाँ ।
 क्षणिक सुख यह राजसी ही लोक कहलाता यहाँ ॥ (38)

(38)

भोग में, परिणाम में जो मोह को उत्पन्न कर ।
 आलस्य निद्रा मद सहित इस जीव को सम्पन्न कर ॥
 मिथ्या वही है तामसी सुख जीव का इस लोक में ।
 प्राप्त कर जिसको सदा नर गिर रहा है शोक में ॥ (39)

(39)

भूमि में आकाश में, या देवयोनि में कहीं ।
 एक भी प्राणि नहीं जो गुणों से मण्डित नहीं ॥
 तीन गुण ये प्रकृति द्वारा प्राप्त ही होते सदा ।
 सत्त्व, रज और तमोगुण सब देह में सोते सदा ॥ (40)

(40)

विप्र क्षत्रिय वैश्य के और शूद्र के सब कर्म भी ।
 प्रकृति के गुणों द्वारा विभाजित सब धर्म भी ॥
 जाति बनी है लोक में इन गुणों के ही धर्म से ।
 गुणों के कारण यहाँ ये हैं विभाजित कर्म से ॥ (41)

(41)

अन्तःकरण की शान्ति भी और इन्द्रियों का दमन भी ।
 धर्म पालन कष्ट भी पर व्याधियों का शमन भी ॥
 बाह्य अन्तःशुद्धता और सरल इन्द्रिय मन रहे ।
 शास्त्र श्रद्धा ईश में सब भांति का साधन रहे ॥ (42)

(42)

(42)

शास्त्र वेदों का पठन परमात्मा के तत्व को ।
 अनुभव सदा करते रहे पहचान कर सब सत्य को ॥
 उपरि वर्णित सत्व गुण जो प्रकृति से प्राप्त हैं ।
 ब्राह्मणों के कर्म हैं जो ब्रह्मणों में व्याप्त हैं ॥ (42)

(43)

धैर्य विक्रम निपुणता और युद्ध से नहीं भागना ।
 दान देना, तेज भी और शरण को नहीं त्यागना ॥
 स्वामी भावों को लिए क्षत्री सदा इस लोक में ।
 कर्म करते हैं सदा इन गुणों के आलोक में ॥ (43)

(44)

कृषि क्रय विक्रय सदा गो पालना व्यवहार में ।
 वैश्य के ये गुण रहे हैं निरन्तर संसार में ॥
 सब वर्ण की सेवा सदा यह शूद्र का ही गुण रहा ।
 जातियाँ गुण भाव से हैं यह अभी मैंने कहा ॥ (44)

(45)

स्वभाविक निजकर्म में रह सिद्धि पाता नर यहाँ ।
 सिद्धि कैसे प्राप्त करता मैं बताता हूँ यहाँ ॥
 उत्पन्नकर्ता प्राणियों का व्याप्त जिससे सृष्टि है ।
 कर्तव्य ही पूजा सदा परमात्मा की दृष्टि है ॥ (45)

(45)

कर्तव्य पालन कर रहा जो नर यहाँ संसार में ।
 प्राप्त करता ईश को इस कर्म के व्यापार में ॥
 गुण रहित भी धर्म अपना श्रेष्ठ है परधर्म से ।
 निजभाव से योजित हुआ जो जुड़ रहा है कर्म से ॥ (46)

(47)

कर्तव्य पालन कर सदा नर पाप को पाता नहीं ।
 प्राप्त कर उस ईश को फिर लौट कर आता नहीं ॥
 इसलिए कौन्तेय अपने भाव गुण निज धर्म को ।
 दोष से संयुक्त भी तो न तजे निज कर्म को ॥ (47-48)

(48)

अग्नि जैसे धूम से ही युक्त होती है सदा।
 दोष से परिपूर्ण सारे कर्म होते सर्वदा ॥
 सर्वत्र आसक्ति रहित इच्छा रहित ही नर यहाँ।
 अन्तःकरण को जीत कर ही शुद्धता पाकर यहाँ ॥ (48-49)

(49)

ज्ञान योगी जो पुरुष निज कर्म को अपना रहा।
 नैष्कर्म्य सिद्धि योग की ही परमनिष्ठा पा रहा ॥
 सिद्धि पाकर फिर पुरुष उस ब्रह्म को पाता यहाँ।
 सुन तुझे संक्षेप में यह ज्ञान बतलाता यहाँ ॥ (49-50)

(50)

शुद्ध बुद्धि युक्त धृति से आत्मा को वश किए।
 विषय के शब्दादि गुण को ज्ञान से परवश किए ॥
 द्वेष ममता रहित होकर परिग्रह को त्यागकर।
 एकान्त सेवी, मन वचन से और तन से जाग कर ॥ (51)

(51)

सात्विक और मित आहारी, ध्यान योगी ही सदा।
 वैराग्य का आश्रय लिए, सज्ञान योगी ही सदा ॥
 अहं, बल को, काम को और क्रोध को अभिमान को।
 त्याग देते हैं सदा जो मान को अपमान को ॥ (52-53)

(52)

आत्मा में शान्त हो, ममता रहित होकर सदा।
 अभिन्न हो परब्रह्म में अस्तित्व निज खोकर सदा ॥
 पात्र सच्चे हैं वहीं मुझ ब्रह्म को जो पासकें।
 इन गुणों से युक्त नर ही पास मेरे आसकें ॥ (53)

(53)

ब्रह्म से संयुक्त हो फिर मोद पाकर लोक में।
 इच्छा रहित होता हुआ गिरता नहीं फिर शोक में ॥
 प्राणियों में एकं सा ही भाव भी रखते हुए।
 योगी पुरुष ही मुदित होता भक्ति रस चखते हुए ॥ (54)

(54)

भक्ति पा वह ब्रह्म योगी तत्व को पहचानता ।
 कौन हूँ, कितना, कहाँ हूँ स्वयं मुझको जानता ॥
 भक्ति से इस तत्व की सम्पूर्णता को जानकर ।
 मुझमें समाहित हो सदा अविलम्ब मेरा ध्यान कर ॥

(55)

(55)

मुझमें लगाकर ध्यान सारे कर्म भी करते हुए ।
 निर्लिप्त सारे कर्म देहिक धर्म भी धरते हुए ॥
 मेरी कृपा से ही सनातन ब्रह्म को पाता यहाँ ।
 लीन मुझ में हो सदा नहीं लौटकर आता यहाँ ॥

(56)

(56)

इसलिए हे पार्थ सारे कर्म मुझमें छोड़कर ।
 मत्प्रपरायण हो रहो सम योग बुद्धि जोड़कर ॥
 मुझमें लगाओ चित्त अपना योग के ही ध्यान से ।
 प्राप्त मुझको कर सकोगे स्वयं के ही ज्ञान से ॥

(57)

(57)

मुझमें लगा कर चित्त मेरी कृपा से ही सर्वथा ।
 तर जायगा सब संकटों से अप्रयासी हो सदा ॥
 और जो तू अहं से यदि मानता मेरी नहीं ।
 भ्रष्ट हो परमार्थ से हो नष्ट यह देरी नहीं ॥

(58)

(58)

अहं का आश्रय लिये मैं युद्ध ही करता नहीं ।
 मानता है, व्यर्थ निश्चय कर्मपथ धरता नहीं ॥
 भाव तेरा बाध्य तुझ को युद्ध में ले जायगा ।
 प्रकृति से जनित गुण ही कर्म भी करवायेगा ॥

(59)

(59)

अर्जुन यदि जिस कर्म को तू चाहता करना नहीं ।
 मोह के कारण यहाँ कर्तव्य पथ धरना नहीं ॥
 पूर्व कर्मों से बंधा करना पड़ेगा ही तुझे ।
 विवश होकर कर्म पथ धरना पड़ेगा ही तुझे ॥

(60)

(60)

सब प्राणियों के हृदय में ही ईश को पहचान लो ।
 योग माया चलित सबको लोक में ही मान लो ॥
 भ्रमित करता ईश ही निज कर्म के अनुसार ही ।
 योग माया से चलाता सृष्टि के व्यापार ही ॥ (61)

(61)

इसलिए हे पार्थ तुम सब भावना से युक्त हो ।
 परमात्मा की शरण जा सब कर्मफल से मुक्त हो ॥
 उसकी कृपा से ही यहाँ तू परम शान्ति पायेगा ।
 उसमें सदा ही लीन हो परधाम को ही जायेगा ॥ (62)

(62)

गोप्य सारे ज्ञान को मैंने तुझे समझा दिया ।
 एक-एक करके रहस्य तेरे ध्यान में सब ला दिया ॥
 समझ कर सब भाँति इसको, सोच और विचार लो ।
 मोह कों त्यागो धनञ्जय कर्म पथ को धार लो ॥ (63)

(63)

गुह्य से ही गुह्य तुझे को वचन मैं कहता यहाँ ।
 अत्यन्त ही है प्रिय मुझे हित कामना गहता यहाँ ॥
 मन लगा मुझमें सदा आराधना मेरी करो ।
 भक्त मेरा बन सदा सब साधना मेरी करो ॥ (64-65)

(64)

मस्तक झुकाओ भी मुझे सब काल मेरा ध्यान ही ।
 प्राप्त होगा तू मुझे मेरी प्रतिज्ञा है यही ॥
 त्याग सब कर्तव्य मुझमें एक मेरी शरण आ ।
 मुक्त पापों से करूँ सन्ताप से भी दूर जा ॥ (65-66)

(65)

रहस्यमय उपदेश मेरा गुप्त रहना चाहिए ।
 अतपी, भक्ति रहित को नहीं कहना चाहिए ॥
 सुनना नहीं जो चाहता मेरे लिए जो दृष्टि में ।
 दोष रखता हो उसे तुम मत कहो इस सृष्टि में ॥ (67)

(66)

गोप्य इस उपदेश को जो मेरे भक्तों में कहे ।
 प्रेम मुझ में ही करे और भक्ति मेरी में रहे ॥
 प्राप्त होता है मुझे सन्देह इसमें है नहीं ।
 दूर हो सब बन्धनों से सत्य यह जानो सही ॥ (68)

(67)

प्रिय है मेरा वह सदा और दूसरा कोई नहीं ।
 आगे कभी इस लोक में फिर दूसरा होगा नहीं ॥
 धर्म मय संवाद अपना जो पढ़ेगा लोक में ।
 उपदेश गीता का पढ़े गिरता नहीं वह शोक में ॥ (69-70)

(68)

वह मुझे ही पूजता है ज्ञान के इस यज्ञ से ।
 स्वीकार करता हूँ उसे मैं जिस तरह सर्वज्ञ से ॥
 जो पुरुष श्रद्धा सहित और दोष दृष्टि मुक्त हो ।
 श्रवण भी जो कर सके सब दूषणों से मुक्त हो ॥ (70-71)

(69)

श्रेष्ठ कर्मी लोक में जा मुक्ति को पाता सदा ।
 परम गति मिलती उसे नहीं लौटकर आता सदा ॥
 हे पार्थ क्या तूने इसे सब सुन लिया है ध्यान से ।
 नष्ट तेरा हो गया मोह जनित था अज्ञान से ॥ (71-72)

(70)

पार्थ बोले हे प्रभो अब मोह मेरा नष्ट है ।
 आपकी पावन कृपा से बोध भी सुस्पष्ट है ॥
 बुद्धि भी स्थिर हुई सन्देह का और क्लेश का ।
 अन्त सारा हो गया पालन करुं आदेश का ॥ (73)

(71)

संजय बताता जा रहा था छोड़ सारे क्लेश को ।
 श्रीकृष्ण अर्जुन के सभी उस ज्ञान को उपदेश को ॥
 रहस्मय रोमांचकारी मैं सुनाता आपको ।
 और क्या देखा सुना मैं सब बताता आपको ॥ (74)

(72)

व्यास जी की कृपा से ही गोपनीय अनन्त को ।
 सुन सका हूँ ज्ञान के इस कोष आदि अन्त को ॥
 दिव्य दृष्टि पा यहाँ प्रत्यक्ष उस योगेश को ।
 देखा सुना कहते हुए श्रीकृष्ण उस सर्वेश को ॥ (75)

(73)

श्रीकृष्ण अर्जुन के उसी संवाद को मैं याद कर ।
 अपूर्व था कल्याणकारी आत्मा में नाद कर ॥
 स्मरण फिर-फिर कर रहा हूँ और पाता हर्ष को ।
 शान्ति देता जो महा और मेटता संघर्ष को ॥ (76)

(74)

दिव्य हरि का रूप वह आश्चर्यकारी था महा ।
 अद्भुत अदेखा रूप था जब याद करता हूँ अहा ॥
 रोमांच होता है मुझे और हर्ष भी होता महा ।
 राजन् बता दूँ आपको यह शुद्ध संजय ने कहा ॥ (77)

(75)

गाण्डीवधारी पार्थ है, श्रीकृष्ण भी रहते वहीं ।
 श्रीकृष्ण रहते हैं जहाँ सब सिद्धियाँ रहती वहीं ॥
 अचल होती नीति भी और विजय भूति भी वहीं ।
 राजन् बताता आपको है मानना मेरा यही ॥ (78)

अष्टोदेशोऽध्यायः समाप्तः



SPS

294.5924 K 92 S





